विप्लव पुस्तक माला—१८

धर्मयुद्ध

[घटना रंजित कहानियाँ]

यशपाल

विप्लव कार्यालय लखनऊ

मई १९५०

मूल्य २)

समर्पण ; —

धर्म और युद्ध परस्पर विरोधी समझे जाते हैं।

परन्तु कभी धर्म के लिये युद्ध और कभी युद्ध के लिये धर्म की पुकार पुकार सुनाई देती है।

ऐसे अन्तरविरोध की परिस्थिति में जो लोग बुद्धि से काम लेने के लिये तैयार रहते हैं उन्हीं को यह कहानियाँ सुनाना चाहता हूँ—

यशपाल

अनुक्रमणिका

भूमिका

कहानी साहित्य के सम्बन्ध में अबतक विवाद यह था कि उसे प्रचार का साधन बनाना उचित है या नहीं। इस विषय के निर्णय का अधिकार आलोचकों ने अपने हाथ में ले लेना चाहा। उन्होंने वर्जना और स्वीकृति के कई फतवे दिये परन्तु निर्णय हुआ पाठकों की ही रुचि से। हिन्दी कहानी साहित्य के रूप में अन्तर आगया है, यह अस्वीकार करने से कुछ लाभ किसी का नहीं। यह परिवर्तन आया है पाठकों के निर्णय और मांग से आलोचकों के निर्णय से नहीं। आज के कहानी लेखक यह जान चुके हैं कि जनता विचार-शून्य साहित्य नहीं चाहती। विचार-शून्यता और प्रचार-शून्यता फलतः एक ही बात है। कलात्मक अथवा रोचक ढग से विचारों की अभिव्यक्ति करने की सफलता ही कला की सफलता है। साहित्य को प्रयोजनपूर्ण बनाने और सहित्य द्वारा अपनी मान्यताओं की स्थापना करने की प्रवृत्ति केवल आज के प्रगतिशील साहित्य का ही आविष्कार अथवा दुराग्रह नहीं। साहित्य में यह प्रवृत्ति साहित्य की परम्परा की आधार शिला रही है। सभी युगों के साहित्यकों ने इस प्रवृत्ति को निबाहा है। यदि मानसिक अभ्यास की मूढ़ता में फँसकर कुछ मान्यताएँ हमें विचारों की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि शाश्वत सत्य जान पड़ने लगी हैं तो यह उन साहित्यकों की सफलता है परन्तु साथ ही यह हमारे रूढ़िग्रस्त होने का भी प्रमाण है।

प्रगति के लिये साहित्य की रचना करने वाले पक्ष की इस विजय ने प्रगति की ओर कदम उठाते समय एक दूसरा प्रश्न उपस्थित कर दिया है। वह प्रश्न है कि साहित्य में प्रगति की समस्या और प्रगति की भावना की अभिव्यक्ति है क्या ?

प्रगति के विषय में वैज्ञानिक तथ्य के आधार पर सोचने वाले लेखक यह स्वीकार करेंगे कि जीवन का आधार भौतिक अथवा आर्थिक है। समाज की भावनाओं, रीति-रिवाज़ों और नैतिकता की बुनियादों तथा उनके विविध रूपों का भी नियमन समाज की आर्थिक परिस्थितियों और आर्थिक ढांचे के अनुरूप ही होता है। इस सत्य को स्वीकार कर लेने पर दूसरी वास्तविकता से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर बनाई गई मनुष्य-समाज की व्यवस्थायें, समाज की नैतिक धारणायें, उचित अनुचित सम्बन्धी विश्वास और महत्वाकांक्षायें मनुष्य-समाज की परिस्थितियों का महत्वपूर्ण अंग बन जाती हैं और ये धारणायें भी मनुष्य-समाज की आर्थिक व्यवस्था, जीवन के लिये प्रयत्नों पर प्रभाव डालना आरम्भ कर देती हैं। समाज की आर्थिक व्यवस्था की जड़ मुख्यतः श्रेणी विभाजन में होने पर भी इन जड़ों के सूत्र-प्रसूत्र समाज की नैतिक धारणाओं, विश्वासों और महत्वकांक्षाओं में भी समाये रहते हैं। शोषक-शासक श्रेणी अपनी व्यवस्था की रक्षा समाज की इन नैतिक धारणाओं और विश्वास के साधनों द्वारा ही करती है। श्रम विभाजन की व्यवस्था, समाज की आर्थिक व्यवस्था के छप्पर की धन्नी है तो समाज की स्वीकृत मान्यतायें और नैतिकता की धारणायें उस धन्नी को सम्भाले रखने वाली दीवार है। शोषक आर्थिक व्यवस्था के ध्वंस की प्रतिज्ञा करने वाले प्रगतिवादी यदि इस धन्नी पर आघात करना लक्ष्य समझ लें और इस धन्नी को सम्भालने वाली दीवारों पर आघात करने को प्रगतिवाद के साथ विश्वासघात का नाम दें तो यह शोषक व्यवस्था का सौभाग्य और क्रान्ति की चेष्टा करने वाली श्रेणी का दुर्भाग्य ही है।

वैज्ञानिक विचारधारा का दम्भ करने वाले लोग यदि यह भूल जांय कि समाज की सभी समस्यायें अन्योन्याश्रय हैं, कोई भी समस्या दूसरी समस्याओं से स्वतंत्र नहीं तो वह निश्चय ही विचार की वैज्ञानिक, तथ्याश्रित पद्धति को हानि पहुँचाये बिना न रहेंगे। समाज की आर्थिक समस्या के बहुमुखी होने के कारण अनेक पहलुओं से उस व्यवस्था की विषमता की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। अनेक पहलुओं से इस व्यवस्था की विषमता के मूल की ओर पहुँचा जा सकता है और इस व्यवस्था पर आघात किया जा सकता है और किया जाना चाहिये। और यह भी स्वाभाविक है कि समाजिक अव्यवस्था के केन्द्र, आर्थिक व्यवस्था के चारों

ओर गुथें हुए समाज में लोग इस अव्यवस्था पर अपने-अपने स्थान और दृष्टिकोण की स्थिति के अनुसार ही आघात करें। परन्तु सब दिशाओं से आने वाले आघातों का परिणाम तो एक ही होगा—इस शोषक व्यवस्था के उन्मूलन का प्रयत्न।

दीर्घकाल तक शोषक व्यवस्था की धारणाओं में बँधे रहकर हमारे समाज ने अनेक असामाजिक मनोदशाएँ (complexes) पैदा करलीं हैं। इन में से एक है प्रभुता का मद। तर्क की संगति से शोषक व्यवस्था की अनैतिकता को स्वीकार करके भी लोग इन मनोदशाओं से मुक्ति नहीं पा सके। पूँजीवादी व्यवस्था का प्रभुता के मद का मानसिक विष जब प्रगतिवाद के क्षेत्र में भी आकर फलित होता है तो प्रगतिवाद के लक्ष्य और परिस्थितियों के अत्यन्त प्रतिकूल होने के कारण और अधिक बुरा प्रभाव दिखाता है। प्रभुता के इस मद का हानिकर प्रभाव प्रगतिवादी साहित्यक क्षेत्र में हम देख रहे हैं। यह प्रभाव है प्रगतिवादी साहित्य के स्वाभाविक बहुअंग प्रयत्न को पगु बनाकर अपने अनुशासन में लाने की मूढ़ता भरी महत्वकांक्षा की पूर्ति का। इसका परिणाम भी अत्यन्त घातक हो रहा है। प्रगतिवाद के प्रति व्यापक सहानुभूति नष्ट होती चली जा रही है।

प्रगतिवाद यदि व्यापक सामाजिक समस्या के क्षेत्र में पुरानी शोषक व्यवस्था से समाज की मुक्ति के प्रयत्न में सहायक होना चाहता है तो उसे साहित्यक को तर्क संगत स्वतत्रता से शोषक व्यवस्था पर आघात करने का अवसर देना होगा। इसी से नई व्यवस्था के प्रति सद्भावना उत्पन्न हो पावेगी।

यशपाल

धर्मयुद्ध

श्री कन्हैयालाल के पारिवारिक क्षेत्र में घटी धर्म-युद्ध की घटना की बात कहने से पहले कुछ भूमिका की आवश्यकता है, इसलिये कि गलतफ़हमी न हो।

कुरुक्षेत्र में जो धर्मयुद्ध हुआ था उसमें शस्त्रों का, इसलिये गांधीवाद के दृष्टिकोण से पाशविक बल का ही प्रयोग किया गया था। यों तो सतयुग से लेकर द्वापर तक धर्मयुग का काल रहा है। वह युग आध्यात्मिकता और नैतिकता का काल था। सुनते हैं, उस काल में लोग बहुत शांतिप्रिय और सन्तुष्ट थे परन्तु सभी लोग सदा सशस्त्र रहते थे। न्याय अन्याय और उचित अनुचित का प्रश्न जब भी उठता, निर्णय शस्त्रों के प्रयोग और रक्तपात से ही होता था! झगड़ा चाहे भाइयों में रहा हो या देव-दानवों में, या पति-पत्नि में······जैसा कि ऋषि जमदग्नि का अपनी पत्नि से, या ऋषियों के समाज में······जैसा कि ब्रह्मर्षि वशिष्ठ और राजर्षि विश्वामित्र में!

इधर ज्यों ज्यों मानव-समाज में आध्यात्मिकता का ह्रास होता गया, लोग निःशस्त्र रहने लगे। झगड़े तो होते ही रहे, होते ही हैं; परन्तु निःशस्त्र होने के कारण लोग नैतिक शक्ति का प्रयोग करने लगे। शस्त्रों के बिना नैतिक शक्ति से न्याय और धर्म के लिये लड़ने या संघर्ष करने की विधि का नाम कालान्तर में सत्याग्रह पड़ गया। सत्याग्रह को ही हम वास्तव में धर्मयुद्ध कह सकते हैं क्योंकि युद्ध या संघर्ष की इस विधि में मनुष्य पाशविक बल से नहीं, बल्कि आत्मबलिदान से, धर्म बल से ही न्याय की प्रतिष्ठा का यत्न करता है। श्री कन्हैयालाल के पारिवारिक क्षेत्र में विचारों का संघर्ष धर्मयुद्ध की विधि से ही हुआ था।

कुछ परिचय श्री कन्हैयालाल का भी आवश्यक है। यों तो कन्हैया-लाल की स्थिति हमारे दफ्तर के सौ-सवासौ रुपये माहवार पाने वाले दूसरे बाबुओं के समान ही थी परन्तु उनके व्यवहार में दूसरे सामान्य बाबुओं से भिन्नता थी। सौ, सवासौ रुपये का मामूली आर्थिक आधार होने पर भी उनके व्यवहार में एक बड़प्पन और उदारता थी, जैसी ऊँचे स्तर के बड़े-बाबू लोगों में होती है। वे दस्तखत करते थे 'के० लाल" और हाथ मिलाते तो जरा कलाई को झटक कर ओठों पर मुस्कराहट आ जाती—"हाओ डू यू डू!" (कहिये क्या हाल है?) और पूछ बैठते—"व्हाट कैन आई डू फार यू?" (आप के लिये क्या कर सकता हूँ?)

दफ्तर के कुछ तुनक-मिजाज लोग के० लाल के "व्हाट कैन आई डू फार यू" (आपके लिए मैं क्या कर सकता हूँ) प्रश्न पर अपना अपमान भी समझ बैठते और कुछ उनकी इस उदारता का मज़ाक उड़ा कर उन्हें "बॉस" (मालिक) पुकारने लगे। लेकिन हमें के० लाल के व्यवहार में अपमान करने की भावना नहीं दिखाई दी। दूसरे को क्षुद्र बनाये बिना ही वे स्वयं बड़प्पन अनुभव करना चाहते थे। इसके लिए हमसे और हमारे पड़ोसी 'दीना बाबू' से कभी किसी प्रतिदान की आशा न होने पर भी उन्होंने कितनी ही बार हमें काफी-हाउस में काफी पिलाई और घर पर भी चाय और शरबत से सत्कार किया। लाल की इस सब उदारता का मूल्य हम इतना ही देते थे कि उन्हें अपने से अधिक बड़ा आदमी और अमीर स्वीकार करते रहते। दफ्तर के चपरासी लाल का आदर लगभग बड़े साहब के समान ही करते थे। लाल के आने पर उनकी साइकिल थाम लेना और छुट्टी के समय साइकिल को झाड़-पोंछ कर आगे बढ़ा देना। कारण यह कि लाल कभी पान या सिगरेट का पैकेट मँगाते तो महीने में एकाध बार रुपये में से शेष बचे दाम चपरासी को बख्शीश दे देते।

हम लोग तो इस दफ्तर में तीनचार बरस से काम कर रहे थे; पचहत्तर रुपये पर काम आरम्भ करके सवासौ तक पहुंच गये थे। दफ्तर की साधारण सालाना तरक्की के अतिरिक्त कोई सुनहरा भविष्य सामने था नहीं। यह आशा नहीं थी कि हमें कभी असिस्टेन्ट या मैनेजर बन जाना है। परन्तु के० लाल शीघ्र ही किसी ऐसी तरक्की की आशा में थे। तीन-चार मास पूर्व ही वे किसी बड़े आदमी की सिफारिश से दफ्तर में आये थे। प्रायः बड़े

आदमियों से मिलने जुलने की बात इस भाव से करते कि अपने समान आदमियों की ही बात कर रहे हों। अक्सर कह देते—"...ग्राहम ऐण्ड ग्रिण्डले" के दफ्तर से उन्हें चार सौ का आफर है, अभी सोच रहे हैं...या "मैकेञ्जा ऐण्ड विनसन" उन्हें तीनसौ तनख्वाह और बिक्री पर ३ प्रतिशत मय फर्स्टक्लास किराया के देने के लिए तैयार है, लेकिन सोच रहे हैं...।"

हमारे दफ्तर में उन्हें लोहे की सलाखें और चद्दरों के आर्डर बुक करने का काम दिया गया था। इस ड्यूटी के कारण उन्हें दफ्तर के समय की पाबन्दी कम रहती, घूमने फिरने का समय मिलता रहता और वे अपने आपको साधारण बाबुओं से भिन्न समझते। इस काम में कम्पनी को कोई विशेष सफलता उनके आने से नहीं हुई थी। इसलिये शीघ्र ही कोई तरक्की पा जाने की लाल की आशा हमें बहुत सार्थक नहीं जान पड़ रही थी। परन्तु लाल को अपने उज्ज्वल भविष्य पर अडिग विश्वास था। ऊँचे दर्जे के खर्चे से बढ़ते हुए क़र्जे की चिन्ता के कारण उनके माथे पर कभी तेवर नहीं देखे गये और न उनके चाय, शरबत और सिगरेट 'आफर' (प्रस्तुत) करने में कोई कमी देखी गयी। उन्हें, ज्योतिषी द्वारा बताये अपनी हस्तरेखा के फल पर दृढ़ विश्वास था।

जैसे जंगल में आग लग जाने पर बीहड़ झाड़-झंखार में छिपे जानवरों को मैदानों की ओर भागना पड़ता है और टुचे-टुचे शिकारियों की भी बन आती है, वैसे ही पिछले युद्ध के समय महान् राष्ट्रों को परस्पर संहार के लिए सभी पदार्थों की अपरिमित आवश्यकता हो गयी। सर्वसाधारण जनता तो अभाव से मरने लगी, परन्तु व्यापारी समाज की बन आई। अब हमारी मिल को ग्राहक और एजेण्ट ढूँढ़ने नहीं पड़ रहे थे बल्कि ग्राहक और एजेण्टों से पीछा छुड़ाना पड़ रहा था। लाल का काम सहल हो गया। उनका काम था मिल के लोहे का कोटा बांटना और मिल के लिए लाभ की प्रतिशत दर बढ़ाना।

दस्तूरन तो के० लाल की तनख्वाह में कोई अन्तर नहीं आया परन्तु अब वे साइकिल पर पांव चलाते दफ्तर आने के बजाय टांगे या रिक्शा पर आते दिखाई देते। टांगे वाले की ओर रुपया फेंक कर, बाकी रेज़गारी के लिये नहीं बल्कि उसके सलाम का जवाब देने के लिये ही उसकी ओर देखते। कई बार उनके मुख से सेकेण्ड हैण्ड 'शेव' या 'वाक्सहाल' गाड़ी का ट्रायल लेने जाने की बात भी सुनाई दी। अब वे चार-चार, पाँच-पाँच

आदमियों को काफी-हाउस ले जाने लगे और उन्मुक्त उदारता से पूछते—"ह्वाट वुड यू लाइक टु हैव ?" ······क्या शौक कीजियेगा ?

अपने घर पर भी अब वे अधिक निमन्त्रण देने लगे। उनके घर जाने पर भी हर बार कोई न कोई नयी चीज दिखाई देती। कमरे का आकार बढ़ नहीं सकता था, इसलिये वह फर्नीचर और सामान से अटा जा रहा था। जगह न रहने पर कुर्सियाँ सोफाओं के पीछे रख दी गयी थीं और टी-टेबल, कार्नर-टेबलें और पैग-टेबलें मेज़ों और मोढ़ाओं के नीचे दबानी पड़ रही थी। मेहमानों के सत्कार में भी अब केवल चायदानी या शरबत का जग ही सामने नहीं आता था। के० लाल उपेक्षा से, तराशे हुए बिल्लौर का डिकेएटर उठाकर आग्रह करते—"हैव ए डैश आफ ह्विस्की ?" (एक दौर व्हिस्की का हो जाय ?)

धन्यवाद सहित नकारात्मक उत्तर दे देने पर भी वे अपनी उदारता को समेटने के लिये तैयार न थे; आग्रह करते—"रम ?··· ······अच्छा, गिमलेट ?"

युद्ध के दिनों में वैकाइयों (WACAI) की भी बहार आई थी। सर्व-साधारण लोग बाजार में जवान, चुस्त, बेझिझक छोकरियों के दलों को देख कर हैरान थे, जैसे नीलगायों का कोई दल नगर की सीमा में फांद आया हो! सामर्थ्य रखने वाले लोग प्रायः इनकी संगति का प्रदर्शन कर गौरव अनुभव करते थे। ऐसी तीन चार हँसमुखियां के० लाल साहब की महफिल में भी शोभा बढ़ाने लगीं।

* * *

श्री के० लाल के माता-पिता अपेक्षाकृत रूढ़िवादी हैं। आचार व्यवहार के सम्बन्ध में उनकी धारणा धर्म, पाप और पुण्य के विचारों से बँधी है। अपने एक मात्र पुत्र की सांसारिक समृद्धि से उन्हें सन्तोष और गौरव अनुभव होता था परन्तु उसकी आचार सम्बन्धी उच्छृङ्खलता से अपना धर्म और परलोक बिगाड़ लेने की बात की भी वे उपेक्षा न कर सकते थे। एक दिन माता-पिता और पुत्र की आचार सम्बन्धी धारणाओं में परस्पर विरोध के कारण धर्मयुद्ध ठन गया।

उस दिन के० लाल ने अपने अंतरंग मित्र मि० माथुर और वैंकाई में काम करनेवाली उनकी पत्नी तथा उनकी साली को 'डिनर' और 'कावटेल' (शराब) पार्टी के लिये निमन्त्रित किया था। इस प्रकार की पार्टियाँ प्रायः होती ही रहती थीं परन्तु इस सावधानी से कि ऊपर की मंज़िल में रसोई-चौके के काम में व्यस्त उनकी मां और संग्रहणी के रोग से जर्जर खाट पर पड़े उनके पिता को पारटी की बातचीत और खानपान के ढंग का आभास न हो पाता था। पारटी के कमरे से रसोई तक सम्बन्ध नौकर या श्रीमती लाल द्वारा ही रहता था। मिसेज़ लाल सास-ससुर की धार्मिक निष्ठा की अपेक्षा अपने पति के सन्तोष को ही अपना धर्म मानती थीं। सास के निर्मम अनुशासन की अपेक्षा पति की उच्छृङ्खलता उनके लिए अधिक सह्य थी।

उस सन्ध्या ऊपर और नीचे की मन्ज़िलों का प्रबन्ध अलग-अलग रखने के प्रसंग में श्रीमती लाल ने पति को सुझाया—"विद्या और आनन्द का क्या होगा?"

के० लाल की बहिन विद्या अपने पति आनन्द सहित आगरे से आकर एक सप्ताह के लिए भाई के यहाँ ठहरी हुई थी। बहिन और बहनोई को मेहमानों से मिलने से रोके रहना सम्भव न था। इसमें आशंका भी थी, क्योंकि विद्या को इस कम उम्र में ही धार्मिकता का गर्व अपनी माँ से कुछ कम न था।

दाँत से नाखून खोंटते हुए लाल ने सलाह दी—"तुम विद्या को समझा दो!"

"यह मेरे बस का नहीं……।"—श्रीमती लाल ने दोनों हाथ उठा कर दुहाई दी—"तुम ही आनन्द को समझा दो!…वही संभाल सकता है।"

यही तय पाया, और लाल ने आनन्द को एक ओर ले जाकर उसके हाथ अपने हाथों में थाम विश्वास और भरोसे के स्वर में समझाया—"आज मेहमान आ रहे हैं।…..मेहमानों के लिये तो करना ही पड़ता है! तुम तो होगे ही!…अगर विद्या को एतराज़ हो तो कुछ समय के लिये टल जाना। या उसे समझा दो!…तुम जैसा समझो! विद्या को पहले से समझा देना ठीक होगा। उसे शायद यह बात विचित्र जान पड़े।

माता जी के विचार और विश्वास तो तुम जानते ही हो! वह माताजी को न कुछ कह दे!"—लाल ने मुस्कराकर अपना पूर्ण विश्वास और भरोसा प्रकट करने के लिए बहनोई के हाथ जरा और जोर से दबा दिये।

आनन्द ने विद्या को एक ओर बुला कर समझाया—"···आजकल के जमाने में यह सब होता ही है। भैया की मजबूरी है......। मैं तो, तुम जानती हो, कभी पीता नहीं। हमारी वजह से इन लोगों के मेहमानों को क्यों परेशानी हो? तुम इतना ध्यान रखना कि माताजी को नीचे न आना पड़े।"—विद्या ने सुना और असन्तोष की उदासी में चुप रह गई।

मिस्टर माथुर, मिसेज माथुर और अपनी साली के साथ जरा विलम्ब से पहुँचे। पारटी शुरू हो गयी थी। पहला पेग चल रहा था। हँसी मजाक की दबी-दबी आवाजें ऊपर की मंजिल में पहुंच रही थीं। आनन्द कुछ देर नीचे बैठता और फिर ऊपर जाकर देख आता कि सब ठीक है।

विद्या ने पूछा—"नीचे क्या हो रहा है?"

भरोसे में आनन्द ने जो हो रहा था बता दिया और फिर नीचे आ हँसी मज़ाक में रम गया।

मां जी जानती थीं कि हँसी-मज़ाक और गप्पबाजी में लगे मेहमान लोग आधी रात से पहले खाना नही खायेंगे। इसलिए उन्होंने बहू को पुकार कर चेतावनी दे दी—"यहाँ रात भर चूल्हे के पास बैठना मेरे बस का नहीं। वो लोग जब खायें, तुम खिलाती रहना।"

रसोई से निकलने से पहले मां जी ने बेटी को पुकारा—"···तू तो खा ले या आनन्द की राह देखती रहेगी?"

"आप लोग खाइये, मुझे नहीं खाना है!"—विद्या का अनुस्वार ध्वनित उत्तर सुनाई दिया। बेटी के स्वर में रुलाहट का आभास पाकर मां जी ने आशंका से पुकारा—"सुन तो, यहाँ तो आ!··· ··बात क्या है?"

दो-तीन बार पुकारी जाने पर विद्या मुँह लटकाये मां जी के सामने पहुंची और समीप बैठ घुटनों में सिर छिपा रो पड़ी।

मांजी के बार-बार विह्वल स्वर में बेटी के रोने का कारण पूछने पर विद्या ने फूट-फूटकर रोते हुए बताया—"हाय मैं कहाँ आ मरी! मुझे मालूम

होता कि यहाँ अब यह होता है तो मैं इन्हें लेकर क्यों आती······?"

मांजी ने बेटी के सिर पर हाथ रख कर, अपनी कसम दिला कर पूछा—"बोलती क्यों नहीं, ······क्या बात है ?"

तब विद्या ने रो रो कर बताया—"बताऊँ क्या ?······मुझ पर ही बीतेगी.......उन्हें नीचे बैठा कर शराब पिला रहे हैं। जाने कौन दो रांडें आयी हुई हैं ?......भैया बड़े आदमी हैं, चाहे जो करें ! मैं तो कहीं की न रहूँगी......। इन्हें लत लग गई तो मुझ पर क्या बीतेगी ?"

मां जी के मस्तिष्क में अपने परिवार के सर्वनाश की आशंका और भयंकर पाप के प्रति क्रोध की चिनगारियों की आतिशबाजी सी छूट गयी। जिस अवस्था में बैठी थीं—पके उलझे खुले बाल, पुरुष की दृष्टि के प्रति निःशंक, शिथिल खुले शरीर पर बेपरवाही से डाला हुआ धोती का आँचल—वैसे ही जीना उतरते समय पांव में उलझ जाने से बचाने के लिए धोती को उत्तेजना में घुटनों से भी ऊपर उठाये वे नीचे की मन्ज़िल में आ पहुंचीं। धक्का देकर उन्होंने बैठक के किवाड़ खोल दिये।

बिजली के प्रकाश में उन्होंने जो कुछ देखा उससे वे क्रोध में बदहवास हो गयीं। जैसे अपनी सन्तान को भेड़िये के मुंह में जाते देख गैया क्रोध और दुस्साहस में, अपने सामर्थ्य के औचित्य की चिन्ता न कर शेर के मुंह में अपने निर्बल सींग अड़ा दे।

नीचे बैठे लोग अपने हँसी मज़ाक के ठहाके में माँ जी के जीना उतरने की आहट न पा सके थे। के० लाल रंग में आकर माथुर की साली को अपना पेग खत्म करने में सहायता देने के लिए उनका गिलास उठा कर उसके मुख से लगाये थे। मिसेज माथुर के० लाल को संतुष्ट करने के लिए मुस्कराती हुई उसके गिलास में बोतल से नया पेग डाल रही थीं।

उसी समय भयंकर चीत्कार का शब्द सुन सब की दृष्टि दरवाज़े की ओर गयी और देखा माँ जी को, केश बिखरे, अर्ध नग्न शरीर ! उनकी आँखें दिन के प्रकाश में जलते बिजली की टार्च के बल्बों की तरह निस्तेज होकर भी चमक रही थीं।

अपनी ढीली धोती के खिसक जाने की भी परवाह न कर माँजी दोनों

हाथ आगे बढ़ा चिल्ला उठीं—"सत्यानाश हो तुम रांडों का!..... तुम्हारा कोई न रहे!..... दूसरों के घर उजाड़ रही हो!...अपनों को लेकर मरो।"

सब लोग स्तब्ध रह गये। लाल ने माथुर की साली के ओठों से लगाया हुआ गिलास और मिसेज माथुर ने अपने हाथ में थामी हुई बोतल तुरन्त मेज़ पर रख दी। मेहमानों के होंठ और नेत्र विस्मय में फैले रह गये।

के० लाल स्थिति सँभालने के लिए अपने स्थान से उठ तुरन्त माँजी के समीप पहुंचे और उनके कन्धों पर हाथ रख दबे स्वर में धमका कर बोले—"यह आप क्या तमाशा कर रही हैं? आपको घर की इज़्ज़त का कुछ ख्याल नहीं? मेहमानों से आप क्यों उलझ रही हैं? आपको जो कुछ कहना है, गाली देना है, जूते मारना है, हमें ऊपर बुला कर कीजिये!"

परन्तु माँजी इस सर्वनाश के सन्मुख क्या औचित्य सोचतीं? उन्होंने बेटे की भर्त्सना अनसुनी कर दोनों उपस्थित श्रीमतियों की ओर हाथ फैला कर चिल्लाना शुरू किया—"हाय हाय रण्डियो तुम मर जाओ!...हाय हाय रण्डियो तुम्हारा वंश उजड़ जाये!...हाय हाय रण्डियो तुम्हारे सिर में आग लगे! निकलो यहाँ से नहीं तो झाड़ू मार कर......।"

के० लाल मांजी के मुँह पर हाथ रखकर और आनन्द उन्हें बाहों से थामकर एक ओर ले जाकर चुप कराने की चेष्टा कर रहे थे परन्तु उनका स्वर तीखा होता जा रहा था—"निकलो अभी तुम्हारा झोंटा पकड़ कर...।"

मिस्टर माथुर, मिसेज माथुर और उनकी साली सिर झुकाये उठे और सकपका कर दूसरे कमरे में से ही आंगन में आ; गली में उतरते जीने से निकले जा रहे थे।

यह स्थिति देख लाल के प्राण कंठ में आ गये। मांजी को छोड़ वे तुरन्त मेहमानों के सामने आ राह रोक कातर स्वर में बोले—"आप लोग ठहरिये, एक मिनिट ठहरिये। मुझे बहुत खेद है, मैं क्या कह सकता हूँ, ...आप लोग एक मिनिट ठहरें, अभी सब ठीक जायेगा।" के० लाल गिड़गिड़ाते रहे परन्तु मेहमान ववशता से झुकी आखों से क्षमा मांगते हुये सीढ़ी उतर गये।

मेहमानों के चले जाने पर भी मांजी ऊँचे स्वर में अपने पुत्र और परिवार का सर्वनाश करने वालों को अभिशाप दिये जा रही थीं। विद्या भी नीचे उतर आयी और एक कोने में खड़ी हो रोने लगी। उसे देख आनन्द नारायण ने धमकाया—"यह सब तुम्हारी शरारत है! अब ऊपर से दुखिया बन रही हो!"

इस धमकी से चुप न होकर विद्या ने कड़े स्वर में उत्तर दिया—"तुम शराब पियो, व्याभिचार करो, झूठ बोलो और उल्टे मुझे गाली देते हो!"

मेहमानों के चले जाने पर के० लाल ने चिल्लाती हुई मांजी के सामने अपनी बांह उठा मांजी के स्वर से भी ऊँचे स्वर में घोषणा की—"मांजी, आपने मेरे घर में, मेरे सामने, मेरे मेहमानों को बेइज्जत किया है। मेहमानों के इस अपमान का प्रायश्चित मैं अपनी जान देकर करूंगा।"

यह घोषणा कर लाल दीवार के समीप फर्श पर बैठ गये और अपना सिर पक्की ईंटों से टकराने लगे। यह दृश्य देख श्रीमती लाल चीखकर दौड़ीं और पति के सिर को चोट से बचाने के लिए दीवार को अपने शरीर की आड़ में ले लिया। प्राण विसर्जन का प्रण किये लाल माने नहीं। दीवार की ओर बाधा पा वे अपना सिर फर्श से टकराने लगे। श्रीमती लाल और भी जोर से चिल्लाने लगीं—"हाय मार डाला! हाय मैं मर गई!

विद्या भी जोर से 'भैया भैया' चिल्लाती हुई लाल से लिपटने लगी। आनन्द ने भी लाल को थामने का यत्न किया।

इस सब कोहराम का कोलाहल ऊपर पहुंचा और पिता जी अपनी खाट से उठ छज्जा पकड़ चिल्ला-चिल्ला कर पूछने लगे—"क्या है, क्या हुआ?"

अपने प्रश्न का कोई उत्तर न पा वे क्रोध में गाली देने लगे, "...... हरामज़ादे, सुनते नहीं!"

मांजी का हृदय बेकाबू हो उठा। वे भी दौड़कर पुत्र के सिर को अपनी गोद में छिपा लेने का यत्न करने लगीं। परन्तु लाल अब तक काफ़ी चोट खा चुके थे और बेहोश होकर लेट गये।

यह देख श्रीमती लाल ने एक बहुत ही दारुण चीख मारी और अपना सिर पीटती हुई सास को गालियों से अभिशाप देने लगी। आंगन से भयंकर विलाप स्वर उठ खड़ा हुआ। विद्या भैया के लिए और मां जी पुत्र के लिए अपनी छाती पीटकर चीखने लगीं।

आनन्द इन सब को परे हटा, चुप रहने के लिए धमका कर, लाल के मुख पर पानी की छींटे दे उन्हें सुध में लाने का यत्न कर रहा था।

पिताजी भी दीवारों का सहारा लेते हुए जीने से उत्तर आये और पुत्र की अवस्था देख दोनों हाथों में सिर थाम कर फर्श पर बैठ गये। और फिर सांस पाकर पुत्रहन्ता मांजी को 'डायन', 'चुड़ैल' और 'राक्षसी' संबोधन करके गालियां देने लगे और उन्होंने घोषणा की, "अगर मेरे बेटे को कुछ हो गया तो पहले मेरी लाश नीचे उतरेगी।" उन्होंने अपने लिए श्मशान यात्रा का प्रबंध करने की आज्ञा दे दी। आंगन की दीवार के साथ खड़ी, कपड़ा धोने की मूसली पर उनकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने मूसली उठा सिर पर मार आत्महत्या की चेष्टा शुरू की। जमाई और बेटी ने दौड़कर वह मूसली उनसे छीन ली। दम उखड़ जाने से विवश हो वे पुत्र के समीप ही फर्श पर लेट गये और बोले—"अब मुझे यहाँ से मसान ही ले जाना!"

विद्या अब कीरने से (मृत्यु के समय लय से रोने के स्वर में) पुकार रही थी—"हाय मैं मर गई। मैंने तो तुम्हारा धर्म रखने के लिए ही सच कहा था। हाय, परमात्मा तू मुझे उठा ले। मेरे भाई का बाल न बांका हो!"

मांजी अपना सिर पुत्र के चरणों में रख बोलीं—"तुम मेरे ईश्वर हो, तुम मेरे देवता हो! मेरे अपराध क्षमा करो! उठकर मेरे अपराध का दंड दो!"

के० लाल के यहां कोलाहल मचता ही रहता था इसलिये पड़ोसियों ने बहुत देर तक उस ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु जब उस कोलाहल की दारुणता की ओर ध्यान गया तो दीना बाबू को पहुँचना ही पड़ा, दो-एक दूसरे और पड़ोसी भी पहुँचे। किसी ने सुझाया—"डाक्टर को नह बुलाया?"

दीना बाबू डाक्टर को बुलाने गये। के० लाल के यहां से बुलावा होने

के कारण आधी रात में भी पड़ोस के डाक्टर नाथ दौड़े हुए आये। डाक्टर भी लाल की उदारता के आभारी थे।

डाक्टर ने आकर चिंता से लाल की नाड़ी की परीक्षा की; और फिर हृदय को टटोला, पलकें पलट कर टार्च से पुतलियों को देखा और बोले—"चिन्ता की कोई बात नहीं।"

आनन्द ने बेहोशी का कारण लाल का फिसल कर गिर पड़ना और सिर्फ फ़र्श से टकराना बतलाया था। डाक्टर ने फिर कहा—"चिंता की कोई बात नहीं। चोट के कारण बेहोशी आ गई जान पड़ती है।" पानी मँगाकर उन्होंने लाल के मुख पर छींटे दिये। उन्हें होश में आते न देख डाक्टर ने उनका नाक और मुँह दबा दिये। पहले तो लाल निश्चल रहे, परन्तु फिर उनका शरीर तिलमिलाया और वे छटपटाकर उठ बैठे।

डाक्टर के आ जाने से विलाप का स्वर बन्द हो गया था। मूर्छा से उठ लाल ने मूर्छा से जगाने वाले व्यक्ति से स्वाभाविक प्रश्न पूछे—"क्या हुआ ? मैं कहां हूं ?"

डाक्टर और दूसरे लोगों के चले जाने पर लाल फिर फर्श पर लेट गये और बोले—"मेरे घर में अतिथि का अपमान हुआ है। मैं यहाँ ही प्राण त्याग कर प्रायश्चित, करूँगा, उठूँगा नहीं !"

इस पर पिताजी ने पुत्रहंता मां को फिर से गालियां देना आरंभ किया। मांजी ने पुत्र के चरणों में सिर रख कर बार-बार दुहाई दी और अपने देवतास्वरूप, परमेश्वर के अवतार बेटे की इच्छा के विरुद्ध ज़बान न हिलाने की प्रतिज्ञा की। सब लोग लाल से उठ कर भीतर चलने के लिये अनुरोध कर रहे थे, परन्तु लाल प्राण रहते उस स्थान से उठने के लिए तैयार न थे।

आखिर लाल ने एक दीर्घ निश्वास ले अपनी शर्त रक्खी—"जिन अतिथियों का अपमान करके घर से निकाला गया है, उन्हें आदर पूर्वक अभी वापस बुलाया जाय। उनसे अपने अपराध की क्षमा मांग लेने के बाद ही वे फर्श से हिलेंगे।"

रात के डेढ़ बज चुके थे, परन्तु घर भर ने आनन्द नारायण से अनुरोध किया कि वह इसी समय जाकर मिस्टर माथुर, उनकी पत्नी और साली को सवारी पर लिवा लायें।

मि० माथुर, मिसेज माथुर और उनकी साली के सामने विकट परिस्थिति थी। जिस घर से गाली दे और झोंटा पकड़, झाड़ू मारने की धमकी देकर निकाला गया हो, रात बीतने से पहले ही फिर उसी घर में जाना उनके लिए कैसे संभव हो सकता था? परन्तु आनन्द ने गिड़गिड़ाकर उनके सामने स्थिति रखी—"इसी समय भैया, भाभी और पिताजी के प्राणों की रक्षा आपके ही हाथ में है। आप लोग इस समय नहीं चलेंगे तो सुबह तक जाने आपको क्या समाचार मिले? इस समय आपके हां या ना पर ही सब कुछ निर्भर है।" वे लोग उसी समय लाल के यहां पहुँचने के लिये विवश हो गये।

लाल आंगन के फर्श पर खुले में, आत्मीयों से घिरे कुरुक्षेत्र के मैदान में शरशैया पर लेटे, भीष्म पितामह की तरह पड़े थे। श्रीमती लाल, विद्या, मां और पिता जी उन्हें घेरे बैठे थे। मेहमानों के लौट आये बिना लाल उठने के लिए तैयार न थे। उन्हें सर्दी खा जाने से बचाने के लिए एक कंबल उन पर लाकर डालने की चेष्टा कई बार की गई, परन्तु उन्होंने कंबल को परे फेंक दिया—मेहमानों से क्षमा पाये बिना प्राण रक्षा का कोई प्रयत्न करने के लिये वे तैयार न थे।

अतिथि लौट कर आये और संबंधियों के साथ ही लाल को घेर कर बैठ गये। लाल की इच्छा फर्श से उठने की न थी। वे चाहते थे केवल एक बात—अतिथि सच्चे हृदय से उनका अपराध क्षमा कर दें और वे शांत चित्त से, वहीं लेटे-लेटे अपने प्राण विसर्जन कर दें।

परन्तु जब मिसेज माथुर और उनकी साली ने उनकी बहिन ने उन्हें बार बार अपने सिर की कसमें दे और उनकी बाहें खींच खींच कर उठने का अनुरोध किया और बीती घटना के लिये मन में कतई मैल न होने का विश्वास दिला कर आगामी संध्या ही उनके यहां डिनर और काकटेल पार्टी स्वीकार कर ली तो एक बांह मिसेज माथुर के कन्धे पर और दूसरी बांह उनकी बहिन के कन्धे पर रखे और श्रीमती लाल के पीठ को सहारा देने से लाल फर्श से उठे और इस आमरण सत्याग्रह को छोड़, धर्मयुद्ध में घायल परन्तु विजयी महारथी की भांति लड़खड़ाते हुए डिनर की टेबिल पर जा बैठे।

मनु की लगाम

२

देबू के पिता काफ़ी बड़े ठेकेदार थे। ज़मीन-जायदाद भी कम न थी। लड़के का व्रतबन्ध (जनेऊ) ज़रा धूमधाम से करना चाहते थे। सम्बन्धियों और रिश्तेदारों को भी इस अवसर से बड़ी-बड़ी आशायें थीं। इसलिए उत्सव कई वर्ष तक टलता रहा।

आख़िर जनेऊ हुआ, और खूब धूम-धाम से। सुनते हैं, उस सस्ते ज़माने में भी ठेकेदार साहब ने लड़के के जनेऊ पर पाँच-छः हज़ार रुपये खर्च कर डाले। रिश्ते के भाँजों और जमाइयों तक को उत्सव में बुलाया गया और सब को संतुष्ट किया गया।

देबू को उत्सव का शौक तो था; परन्तु जनेऊ पहन कर नियम निबाहने वाले लोगों का बँधा और कड़ा जीवन देख कर, इस व्रत के नियमों की ज़िम्मेदारी के आशंका भी अवश्य थी।

व्रतबंध के उत्सव के समय ठेकेदार साहेब और दूसरे रिश्तेदारों ने अपने मन का चाव पूरा करने के लिए देबू को एक पीली लँगोटी पहनाई, विशेष यत्न से मँगाया गया काले मृग का चर्म ओढ़ाया और चाँदी का भिक्षा-पात्र हाथ में देकर, ब्रह्मचर्य का कठिन जीवन आरम्भ करने के प्रतीक-स्वरूप उत्सव में आये लोगों से भीख भी मँगवाई।

बड़े ठेकेदार के प्रति आदर और उनके बेटे के प्रति स्नेह प्रकट करने के लिए, उपस्थित सज्जनों ने देबू के हाथ में थमे चाँदी के भिक्षा-पात्र में मुस्करा-मुस्करा कर नोट, गिन्नी और चाँदी के चमकते सिक्कों के रूप में भिक्षा डाली। गिनने पर वह रकम लगभग सवा-तीन सौ रुपये निकली। देबू का मन अपनी इस सफलता पर पुलक उठा।

व्रतबन्ध के उत्सव पर जनेऊ पहनने वाले को उत्साह से भिक्षा देने के लिये अपने ही घर पर आये लोगों से भिक्षा इकट्ठी करने का काम तो एक ही दिन की बात थी, परन्तु जनेऊ के कड़े नियमों का पालन नित्य की बात।

उसी संध्या जब देबू उस्तरे से घुटे, कोरी हांडी जैसे सिर पर कील की तरह खड़ी चुटिया बाँधे, जाड़े में केवल एक धोती पहन, खाना खाने के लिये चौके में बैठा तो बहन ने चौके के समीप आ अँगूठा दिखा कर भाई को चिढ़ाया—"अब खाना प्याज़ और बाज़ार की चाट! बहुत दिखा-दिखा कर खाता था!"

देबू उस समय तो मन मार कर रह गया, और जनेऊ पहन लेने के बड़प्पन के संतोष में उत्तर दिया, "ऊँह, न सही।" परन्तु अगले ही दिन जब कड़ी सर्दी में सुबह ही उसे नहाने के लिये पुकारा गया तो जान पड़ा कि मनु महाराज का दिया प्रतिष्ठा का यह चिह्न सतोष की अपेक्षा दुख का ही विशेष कारण है।

बड़ी बहिन ने दिन भर में तीन-चार बार उँगली की गाँठ से उसके सिर पर टुल्ला मार कर उसका अपमान किया। जब देबू ने इस अपमान का बदला लेने के लिये, बहिन की चुटिया पकड़ कर झकझोरा तो सभी विरोध कर उठे—"अरे, अरे, जनेऊ पहन कर भी लड़कपन करता है?" और फिर टुल्लाबाजी बहन तक ही सीमित नहीं रही। मुहल्ले और बिरादरी के सभी लड़के इस अधिकार का प्रयोग करने को अधीर थे। देबू किस-किस से मारपीट करता?

जेब में पेसा रहने, हाथ और मुंह खुले होने पर भी मनमानी चीज़ न खा सकने की विवशता भी असह्य हो रही थी। देबू बार-बार सोच रहा, था कि जब अभी तक कोई भी चीज़ खा लेने से कुछ नहीं बिगड़ा, तो कंधे से तीन तागे लटका लेने से ही क्या वही चीज़ें खा लेने से वह बीमार हो जायगा? अगर जनेऊ पहन लेने से ही बाजार की चीजों का खाना पाप हो गया तो जनेऊ पहनना ही ग़लती हुई।

देबू बचपन से यही विश्वास करता आया था कि आयु बढ़ने से लड़कों की स्वतन्त्रता और अधिकार बढ़ जाते हैं; परन्तु इस व्रतबंध ने सहसा उसके कितने ही अधिकार और स्वतन्त्रता छीन ली।

तीसरे ही दिन संध्या समय एक और घटना हो गई। देबू स्कूल से बगल में पुस्तकें दबा दौड़ा हुआ आया। पुस्तकें एक ओर पटक कर, उतावली में पानी का लोटा उठा, टट्टी में जा घुसा। निवृत्त हो आँगन में आ, हाथ धोने के लिये पानी जल्दी लाने के लिये उसने बहिन को धमकाया।

बहिन ने देबू की धमकी की अपेक्षा कर जोर से चिल्ला कर माँ से और सब लोगों से शिकायत की—"देखो तो, अरे देखो तो, देबू जनेऊ कान पर चढ़ाये बिना टट्टी चला गया !"

"राम,राम ! छी, छी, !.......यह क्या किया ?...बड़ा पागल है ! ......बड़ा गन्दा है !...म्लेच्छ है !" "इतना बड़ा ढपोंग हो गया, पर जरा भी अक्ल नहीं ! बिल्कुल चमार है !" घर भर में शोर मचा गया।

और फिर विचार और चिन्ता के पश्चात निश्चय हुआ कि देबू को एक उपवास करा कर, स्नान के पश्चात मंत्र पढ़ कर, नया जनेऊ पहनना होगा। ऐसा ही हुआ भी। अपवित्रता से शिथिल हो गये देबू के व्रतबंध को जब प्रायश्चित से पुनः स्थापित किया जा रहा था, तब देबू का मन भीतर ही-भीतर कराह रहा था। 'क्यों न कुछ दिन मुझे ऐसे ही, मनु की लगाम से मुक्त ही रहने दिया जाय ? कितने ही आदमी इस लगाम से मुक्त, मनमौजी ढंग से जीवन बिताते हैं। उनका भी तो कुछ बिगड़ नहीं जाता। क्या इस धागे का मूल्य जीवन के सब सुख दुख तथा स्वतंत्रता से अधिक है ? परन्तु देबू की अनिच्छा और अनुत्साह की परवाह न की गई। वंश और वर्ण का सम्मान लड़के की उच्छृङ्खलता से अधिक महत्वपूर्ण वस्तु थी।

देबू अल्मोड़ा के मिशन हाई स्कूल में पढ़ता था। अगले ही रविवार वह अपने दो मित्र इसाई के लड़के के साथ घूमने के लिए "कोसी" चला गया। यहाँ देबू के मित्र गार्डन की ननिहाल थी। गार्डन की माँ अपने मायके में थी। उसने अपने लड़के और उसके दोनों मित्रों को चाय पिलाई और उबले आलू पनीर के साथ खाने के लिये दिये। देबू इससे पहले अपनी उच्छृंखलता में परहेज की चिन्ता न करता था परन्तु अब मनु का बन्धन जो मौजूद था ! ईसाई के हाथों बनी चीज़ मुख में डालते देबू को पाप और अपवित्रता की आशंका हुई, व्रतबंध टूट जाने के भय से उसे रोमांच-सा हो आया। परन्तु ममता से खाने के लिये दी गई ची

ठुकरा देने का साहस न हुआ। देबू ने आलू खाकर चाय पी ली।

किन्ते उसके मन में अनुचित कार्य हो जाने का संकोच बना रहा। कपड़ों के भीतर शरीर पर चिपका मनु का बन्धन मानो उसके मन और शरीर को भीतर-ही-भीतर कचोट रहा था। देबू का मन बहुत खिन्न हो उठा। मन की अशान्ति दूर कर देने के लिए वह अकेले ही सितौली के जंगल की ओर घूमने चला गया।

'क्या करूं? मन कैसे शान्त हो?'—बार-बार मन में ये प्रश्न उठते। आखिर देबू ने कुरते के भीतर हाथ डाल, लगातार चिकोटते हुए जनेऊ को खींच कर तोड़ दिया और निकाल कर एक काँटेदार झाड़ी में फेंक दिया। एक झंझट से मुक्ति पा लेने के ढंग से अपने आप उसने कहा—"लो बस! इसी लगाम ने तो मेरा मुंह बाँध रखा था, और मेरे लिए सब कुछ पाप बना दिया था!"

देबू फिर से खाने-पीने के बारे में उछृङ्खल हो गया। घर में इस बात पर शोर मचा, आपत्ति हुई, डाँट पड़ी, गाली मिली, घर से निकाल दिये जाने की धमकी दी गई। देबू अनसुनी कर देता लेकिन जब कोई समझाता तो वह बहस करने लगता—"भगवान ने ही ब्राह्मण बनाया है तो जनेऊ पहन कर ब्राह्मण बनने की क्या ज़रूरत?......भगवान ने खाने के लिए चीज़ें बनाई हैं तो क्यों न खायें? भगवान के बनाये जैसे दूसरे आदमी, वैसे ही हम। हम क्यों लगाम पहनें?"

बिगड़ैल और मुंहजोर जान कर लोगों ने उसे समझाना छोड़ दिया। जनेऊ न पहनने से देबू को कोई भी हानि न उठानी पड़ी; उछृङ्खलता का अधिकार मुनाफे में मिला। द्विज का चिन्ह न पहनने पर भी वह द्विज की सन्तान था। यह बात सब कोई जानते थे। द्विज होने के लिए प्रमाण की ज़रूरत क्या? देबू जनेऊ से मुक्त होकर भी द्विज के अधिकारों से वंचित न हुआ।

(२)

कई बर्ष बीत गये। देबू बचपन के खेल और शरारतें छोड़, अलमोड़ा के कामयाब वकील बन गये; और फिर काँग्रेस-कमेटी के मंत्री बन कर, वे "देवदा" पुकारे जाने लगे।

देवदा काँग्रेस के अछूतोद्धार कार्यक्रम में भाग ले रहे थे। ज़िले के गाँवों में जाकर उन्होंने महात्मा गांधी का सदेश सुनाया था—"सब मनुष्य भगवान की सन्तान हैं, और भगवान की दृष्टि में समान हैं। हरिजन हरि के प्यारे हैं। उन्हें सवर्णों के समान ही हरि-मन्दिर में प्रवेश करने और सार्वजनिक कुओं से जल लेने का अधिकार होना चाहिए।"

हरिजनों के सवर्णों से बराबरी का दावा करने के कारण, जिले में जगह-जगह उत्पात भी हो रहे थे। कहीं हरिजनों के ब्याह के समय दूल्हे के डोली-पालकी पर चढ़ सकने के अधिकार के सम्बन्ध में झगड़ा हो जाता, कभी हरिजनों के ब्याह शादी में सवर्णों की तरह बाजा बजाने के सवाल पर। कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं को इन मामलों में काफ़ी परेशानी उठानी पड़ती। वे महात्मा गांधी की आज्ञा पूरी करना, या हरिजनों को हिन्दू समाज से दूर हटने से और अंग्रेज़ सरकार के पक्ष में जाने से बचाना चाहते थे, और साथ ही अपनी बिरादरी के लोगों और सबल सवर्ण समाज को भी रुष्ट नहीं होने देना चाहते थे।

आर्यसमाजी प्रचारकों के सुझाने से हरिजनों ने द्विजों के समान व्रतबंध ग्रहण कर, अपनी हीनता त्याग, सवर्णद्विज बन जाने का निश्चय किया! स्थान-स्थान पर हरिजन लोग जनेऊ पहनने लगे। ब्राह्मण, ठाकुर और बनिये तो कपड़ों के नीचे मैले-कुचैले जनेऊ ही पहनते थे; परन्तु उत्साही हरिजन लोग—आर्य पण्डितों के समझाने से- उजले, पीले और भड़कीले केसरिया रंग के जनेऊ, सरकारी चपरासियों के कंधे से लटकी चपरास की तरह, कपड़ों के ऊपर पहनने लगे। आर्य पण्डितों का कहना था कि यज्ञोपवीत ब्रह्मसूत्र है। वह छिपाने की चीज़ नहीं। वह तो मनुष्य के सवर्ण और द्विज हो जाने की घोषणा है। उसे छिपाया क्यों जाये? हरिजनों ने कई स्थानों पर सवर्ण और द्विज बन जाने के विश्वास में हीन समझे जाने वाले कर्म, मुर्दा जानवर ढोना या सवर्णों के घर के कठिन काम करना भी छोड़ दिया।

ठाकुरों और ब्राह्मणों ने भगवान और धर्म द्वारा दिये गये अपने अधिकारों और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये, हरिजनों की इस स्पर्धा और बढ़ाचढ़ी को रोकना आवश्यक समझा, और हरिजनों के सवर्ण और द्विज बन जाने के आन्दोलन का विरोध करना शरू किया। जनेऊ पहन लेने वाले हरि-

जनों को ठाकुरों और ब्राह्मणों की ज़मीन से बेदखल किया जाने लगा। जहाँ-तहाँ इन्हें पकड़ कर, पीट-पाठ कर, उनके जनेऊ तोड़ दिये गये। दो-तीन जगह ठाकुरों ने हरिजनों के जनेऊ तोड़ डाले। उनके शरीर पर तपे लाल हँसिये से जनेऊ के चिह्न दाग कर कहा—"यह रहा तुम्हारा जनेऊ!"

काँग्रेस द्वारा अंग्रेज़ सरकार के विरुद्ध चलाया गया देश की स्वतन्त्रता का अन्दोलन ऊँची ज़ातों और नीची जातों के बीच जनेऊ के अधिकार के आन्दोलन में बदलता जा रहा था। अंग्रेज सरकार दुरतफा चाल चल रही थी। महारानी विक्टोरिया की घोषणा के अनुसार सरकार भारतीय प्रजा की धार्मिक स्वतन्त्रता में दखल नहीं दे सकती थी। सरकार एक ओर हरिजनों को ऊँजी जातियों के अत्याचार से बचाने का दावा कर रही थी, और दूसरी ओर ऊँची जातियों की धार्मिक भावना को ठेस न लगने देने की भी व्यवस्था कर रही थी। इस धर्म-युद्ध के संघर्ष से कुमायूँ के पहाड़ी देहातों में बेचैनी फैल गयी।

हरिजनों ने अनेक गाँवों से आ उत्कड़ा गांव में इकट्ठे होकर सामूहिक रूप से समारोह पूर्वक यज्ञोपवीत पहनने का निश्चय किया। हरिजनों की इस चुनौती से इलाक़े के ब्राह्मण, ठाकुर भी लठ्ठ ले-लेकर, टोलियाँ बना, उत्कड़ा गाँव की ओर जाने लगे। जान पड़ता था कि भूख से भीरु और आत्म-सम्मान खोये भारतवासी अपने धर्म पर जूझने के लिये एक बार जाग उठे हैं—और कुमाऊं क्षेत्र कुरु क्षेत्र का रुप धारण कर रहा है।

ज़िले में समाचार पहुँचा और सरकार की ओर से एक नायब तहसीदार साहब हथियार बन्द पुलिस का एक दस्ता लेकर भारतवासियों की धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा करने और धार्मिक भावनाओं पर लगती ठेस से उनकी रक्षा करने उत्कड़ा पहुँच गये।

इस धार्मिक महाभारत की तैयारी के समाचार से अलमोड़ा के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में भी बेचैनी फैल रही थी। परन्तु इस प्रश्न में धार्मिक समस्या का पुट आजाने के कारण सब कांग्रेसियों का एकमत होना कठिन था; भारतवासियों के लिये धर्म सदा ही राजनीति से ऊँचा रहता है! कुछ लोग मनु के समय से चली आई हिन्दू धर्म की मर्यादा को ठेस पहुँचाने वालों से क्रुद्ध थे, और कुछ महात्मा गाँधी और कांग्रेस के अछूतोद्धार आन्दोलन

का समर्थन करना चाहते थे। इस विकट परिस्थिति में संगठित रूप से कोई क़दम उठाना सम्भव न हो रहा था।

देवदा अकेले ही उत्कड़ा ग्राम पहुंचे। आस-पास के इलाके से लगभग ढाई सौ हरिजन गाँव में जमा थे। सड़क के उस पार लट्ठबन्द ठाकुरों और ब्राह्मणों की टोलियाँ भी जगह-जगह अवसर की प्रतीक्षा में बैठी थीं। इन सवर्णों के सामने मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र का उदाहरण मौजूद था, जिन्होंने तपस्या करके शूद्र से ऋषि बन जाने की इच्छा करने वाले सिर अपनी तलवार से काट कर पृथ्वी का पाप हल्का किया था। उत्कड़ा गाँव के मुखिया के घर पर तहसीलदार साहब और उनके साथ पुलिस का दस्ता प्रजा की धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिये प्रतीक्षा कर रहा था।

देवदा सीधे उत्कड़ा की हरिजन बस्ती में चले गये। हरिजनों की भीड़ ने उन्हें घेर लिया। परन्तु कुछ उग्र विचार हरिजनों को एक कांग्रेसी ब्राह्मण का हरिजनों के बीच आकर, उन्हें बहकाना पसन्द न था। अपने साथियों को सावधान करने के लिये इन लोगों ने नारे लगाये—

"ब्राह्मण ठाकुर लाला, इनका मुंह हो काला!"

किसी दूसरे ने नारा लगाया—"ब्राह्मणों के दलाल को निकाल दो।"

देवदा इस प्रदर्शन की उपेक्षा कर, शान्त बने रहे। हाथ उठा, ऊँचे स्वर में उन्होंने अपना भाषण शुरू किया—"भाइयो! आप लोग जनेऊ पहनना चाहते हैं। ब्राह्मण, ठाकुर आप लोगों को जनेऊ नहीं पहनने देते। लेकिन भाइयों, मुझे तो कोई जनेऊ पहनने से नहीं रोकता। पर मैं खुद ही नही पहनता। आप लोगों को विश्वास न हो, तो यह देख लो!" और देवदा ने अपना कुरता उतार कर सब लोगों के सामने झाड़ दिया। फिर वे बोले—"मैं जनेऊ नहीं पहनता, लेकिन किसी ब्राह्मण से मेरी पसलियां कम नहीं हैं। जो चाहे, गिन कर देख ले।"

यह बात पक्की है, कि आप जनेऊ पहनना चाहें, तो रोकने का हक़ किसी को नहीं है। आप चाहें, तो चौथाई तोले का जनेऊ क्या, मन भर सूत कंधे से लटका ले। किसी के बाप का इस में क्या जाता है? अगर

कोई आप का जनेऊ तोड़ने आयेगा, तो मैं पहले अपना सिर तुड़ाने के लिये तैयार हूँ !''—देवदा ने बांह उठा कर, आखिरी वाक्य खूब जोर से कहा ।

''लेकिन मैं आप से एक बात पूछता हूं । आप यह क्यों मानते हैं कि आपकी जात नीची है और कन्धे से मनु की चपरास लटकाने वाले लोग ऊँचे हैं ? अँगरेज़ तो मनु की चपरास नहीं पहनता और यह ब्राह्मण, ठाकुर रोज अँगरेज के हाथों जूते खाते हैं ! अगर आदमी मनु की लगाम लगा लेने से ही बड़ा हो जाता है तो ब्राह्मण, ठाकुर अँगरेज से बड़े क्यों नहीं हो गये ?

''आपके दिल में यह क्यों बैठ गया है कि ब्राह्मण, ठाकुर बड़े हैं, या उनका जनेऊ बड़ा है ? आप ब्राह्मण ठाकुर बन कर बड़ा बनना चाहते हैं ? पर अभी आप क्या उनसे छोटे हैं और वह धागे की लगाम लगा कर बड़े हो जायँगे ? क्या आप मानते हैं, यह ब्राह्मण, ठाकुर का धागा दुनिया में सब से बड़ी चीज़ है ? इनसान से, आप से भी बड़ी चीज़ है ? इसके लिये आप जान दे देना चाहते हैं ? धागा तो धागा ही है । आप लोग ही इस धागे को बड़ा मान रहे हैं और बड़ा बना रहे हैं । आप उसे भूत बना कर उससे डर रहे हैं । ब्राह्मण ठाकुर तो आप जैसे आदमी हैं; न बड़े, न छोटे । लेकिन आपने अपने आप को छोटा और उन्हें बड़ा मान लिया है और उनकी निशानी अपने ऊपर चढ़ा कर, बड़े बनना चाहते हैं । आप अपने आपको छोटा क्यों समझें और धागे का तावीज बांध कर बड़े बनने की कोशिश क्यों करें ?

''आप लोग ब्राह्मण ठाकुर बनना चाहते हैं ?''

भीड़ में से कई लोग इन्कार करने लगे, परन्तु देवदा हाथ उठा, उन्हें चुप करा कर बोले—''ब्राह्मण, ठाकुर अपने आप को द्विज कहते हैं । द्विज का मतलब है—दो बार जन्म हुआ ! भाइयो, दो बार कौन जनमता है ? दो बार जन्मते हैं कौये, मुर्गियां और अन्य चिड़ियां । पहले अण्डा पैदा होता है और फिर अण्डे से चूज़ा पैदा होता है । यह है दो बार जनमने का ढँग ! ये द्विज लोग अपने आप को दो बार जन्मा कहते हैं । भाइयो, इन्हें दो बार जन्मने दीजिये ! धागे की अपनी लगाम लगाने दीजिये ! आप अच्छे-भले आदमी हैं, मुर्गी क्यों बनते हैं ? धागा बांध कर मुर्गी

बनने की जरूरत क्या है ? आप में से जो लोग अपने-आपको छोटा समझते हों और मुर्गी बन जाना चाहते हों, अपने नाम बोल दें ?

"कोई नहीं ! कोई नहीं !"—भीड़ चिल्लाने लगी।

देवदा फिर बोले—"सुनो, भाइयो, मनु द्विज लोगों का गुरु था। अपनी जात के लोगों को पहचानने के लिये उसने एक धागे की चपरास बनाई। आप लोग अपनी अच्छी-भली जात बदलने के लिये मनु की लगाम क्यों पहनना चाहते हैं ? अगर आप खुद को छोटे और दबे हुये समझते हैं तो अपनी हिम्मत और करतूत से बड़े बनिये। दूसरी जात की निशानी और लगाम पहनने से बड़े बनने की इच्छा अपनी बेइज्जती है। जिन लोगों ने आप के साथ अन्याय किया, आपको दबाया है आप उन्हीं की निशानी पहनना चाहते हैं ? आप उन्हें अपने से बड़े क्यों मानते हैं ? और उनकी लगाम आप क्यों पहनना चाहते हैं ?"

भीड़ के लोग प्रश्नात्मक दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखने लगे।

अवसर देख, देवदा ने अन्तिम बात कही—"भाइयो, जो लोग अपने को ब्राह्मणों, ठाकुरों से छोटे मानते हों और मनु की लगाम पहन कर, मुर्गी बन कर बड़े बन जाने की आशा करते हों, वे अपने काम का हर्ज करके यहां बैठे रहें। दूसरे लोग घर जाकर अपना काम देखें।" भीड़ छंटने लगी।

यज्ञोपवीत पहना कर अछूतों का उद्धार करने आये आर्यसमाजी प्रचारकों को इस धर्म-विरोधी प्रचार से बहुत दुख हुआ। अँगरेज़ सरकार के न्याय की धाक जमाने के लिये सशस्त्र पुलिस का दस्ता लेकर आये नायब तहसीलदार साहब को भी निष्फलता अनुभव हुई और ब्राह्मण, ठाकुरों की लट्ठ-बन्द टोलियां भी अपनी शक्ति के प्रदर्शन का अवसर निकल जाने से और अपने धर्म की रक्षा में बलिदान न हो सकने से निराश हो गईं। परन्तु अछूत लोग बेहद सन्तुष्ट थे। उनकी हालत ऐसी थी कि जैसे अपने सिर पर रखी बप्पड़पन की पगड़ी भूल कर कोई आदमी उस पगड़ी को कोनों और ताकों में ढूँढ़ रहा हो, और कोई सुझा दे कि "भई, पगड़ी तो तुम्हारे सिर पर ही है, ढूँढ़ क्या रहे हो ?"

और सन्तुष्ट थे देवदा। जैसे मनु की लगाम के बन्धन से कुछ दिन पहले पाई दुख और असुविधा का उन्होंने भरपूर बदला ले लिया हो।

———

विश्वास की बात

उन दिनों अलमोड़ा में था। 'लाला-बाज़ार' की लोहे के शेरवाली सीढ़ियों से माल-रोड पर उतरते समय सामने सूर्यास्त का दृश्य दिखाई दे रहा था। सूर्य की विदा लेती सिन्दूरी किरणों में क्षितिज काँपता सा, अस्थिर-सा जान पड़ रहा था और नीलंगू पहाड़ियाँ तंग जगह में से बड़े बड़े अजगरों की भाँति दूसरों के नीचे दबने से बचने के लिये किलबिला कर ऊपर चढ़ी आती-सी जान पड़ती थीं। गुलाबी झलक लिये आकाश के पट पर त्रिशूल की बर्फ़ानी चोटियाँ ऐसे उभरी हुई थीं कि आग की लपटें, अपना फोटो खिंचवाने के लिये, पल भर को सहम कर रह गई हों। कितनी दूर तक रंग की, पिघली हुई आग की यह होली दिखाई दे रही थी!

उस सन्ध्या वकील साहब के यहां दावत थी। वकील साहब साथ ही थे। सम्भवतः इस आशंका में कि दूर 'हीराडुंगरी में' उनके मकान तक चलने से कतरा कर मैं दावत की बात भूल ही न जाऊँ।

अलमोड़ियों को अपने नगर और पहाड़ के प्राकृतिक सौन्दर्य का उतना ही गर्व है जितना किसी युवती को अपने रूप का हो सकता है। अलमोड़ा की शोभा के प्रति आदर देख उन्हें सन्तोष होता है। अलमोड़ा के इस स्वाभाविक सौन्दर्य-वैभव की तुलना में मैंने नैनीताल की चर्चा छेड़ी—...गढ़े में छिपी झील को सूर्योदय और सूर्यास्त से कोई सरोकार नहीं।... ...बिजली की तेज रोशनी में रसिक की कल्पना और आवश्यकता के अनुरूप 'मेकअप' से मोहक और सुन्दर बनी निशाचरी सौन्दर्य-व्यवसायिनी के समान!'......

अपने गर्व को छिपाने की शालीनता में वकील साहब ने आत्म-आलोचना

की विनय से कहा—'पर एक बात बुरी है अलमोड़ा में ! सवारी यहाँ किसी भी तरह की नहीं मिल सकती । नैनीताल मंसूरी में मोटर, ताँगा न सही, रिक्शा, घोड़ा और डांडी तो हर समय मिल सकते हैं ।'

मैंने वकील साहब की बात का विरोध किया—'यही तो अलमोड़ा की खूबी है कि सवारियों के लिये काफी पैसा खर्च न कर सकने की अपनी आर्थिक क्षुद्रता यहाँ खलती नहीं ।'

बात वकील साहब को जँची और समर्थन में बोले 'इससे बड़ी बात यह है कि राहचलतों में समता का एक भाव स्वयम् ही बन जाता है ।'

* * *

जब दावत के बाद, रात साढ़े-दस बजे के अंधेरे में, 'हीराडुंगरी' से 'देवदार' पैदल जाने की विवशता की स्थिति सामने आई तो 'अलमोड़ा में सवारियों के अभाव की खूबी' खल गई । परन्तु इस 'खूबी' को तो सराह चुका था । अब क्या कहता ! मन ही मन सोचा—परिस्थितियां और आवश्यकतायें मनुष्य के विचार किस प्रकार बदल देती हैं । मनुष्य के विचार परिस्थितियों से स्वतत्र नहीं हो सकते ....।

वकील साहब अन्धेरे और विषम मार्ग का ख्याल कर बिजली को बत्ती का प्रकाश रास्ते पर डालते हुए साथ साथ चल रहे थे उनकी इस सज्जनता के प्रति कृतज्ञता प्रकाश के लिये उनके हाथ में थमी बिजली की बत्ती की ही सराहना की—'विज्ञान ने जहाँ संसार का रूप बदल देने वाले बड़े-बड़े साधन बनाये हैं, वहाँ वैज्ञानिक विकास के परिणाम में बनी छोटी-मोटी चीज़ों का भी महत्व हमारे जीवन में कम नही । देखिये, इस समय यह टार्च न होती तो दिया या मशाल लेकर इस रास्ते पर चलना क्या आसान होता ?'

'अभ्यास की बात है'—वकील साहब ने अपने स्वर को स्पष्ट करने के लिये मुंह में भर गयी पान की पीक निगल कर कहा—'यहाँ के लोग अन्धेरे में भी धड़धड़ाते हुए चले जाते हैं ।'

" परन्तु अन्धेरे में, ऊबड़खाबड़ राह पर ठोकर लग जाने की आशंका तो बहुत रहती होगी ।'

ऊँह, ठोकर नहीं लगती; पाँव सध जाते हैं ।'—पान के रस से ढीले स्वर में वकील साहब बोले—'इस इलाके में डर रहता है अकसर सांप का। 'डुंगरी' के आसपास, सांप काफ़ी निकलते हैं। लोगों का खयाल है कि ऊंची और ठंडी जगह में साँप अकसर नहीं होता। लेकिन, जाने क्या कारण; यहाँ तो बहुत हैं !'

निश्चय न कर पाया कि सांपों की उपस्थिति और अधिकता भी वकील साहब के लिये गर्व का कारण है या इसके लिये समवेदना प्रकट करना उचित होगा। बात चालू रखने के लिये उत्तर दिया—'ऊंची जगह में सांप नहीं होते ? 'हीरगडुंगरी' की समुद्रतल से ऊंचाई पाँच हजार फुट से अधिक न होगी ?'—मैंने प्रश्नात्मक दृष्टि से वकील साहब की ओर देखा, और समर्थन में हुंकारा पाकर बोला—'मैंने समुद्रतल से दस-ग्यारह हजार फुट की ऊंचाई पर 'नागकंडा' के समीप 'हाटू के टिब्बे' की पगडण्डी पर, सन् १६४६ में ताज़ा मरा हुआ साँप देखा था। साँप वहाँ होता होगा तभी किसी ने मारा होगा ? मरा हुआ साँप मैदान से भला वहाँ कोई क्यों लाया होगा ?'

'किस किस्म का साँप था ?'—वकील साहब की आंखें अँधेरे में खूब फैल गई। उनके स्वर से भी मालूम हुआ कि इस विषय में उन्हें उत्सुकता और नाधिकार भी है।

सर्पविद्या का कुछ भी ज्ञान न होने के कारण सतर्कता से उत्तर दिया—'मैं तो इस विषय में कुछ भी नहीं जानता। वह साँप प्रायः हाथ भर लम्बा रहा होगा, रंग भूरा चमकीला था और पीठ पर काले-काले धब्बे थे।'

कुछ पल पान के रसास्वादन में या सर्पविद्या के विवेचन में मौन रह कर वकील साहब ने मत प्रकट किया—'हूँ, शायद छोटा क्रेटर होगा। लेकिन यहाँ तो ख़ासी लम्बाई के विषैले क्रेटर और बड़े-बड़े कोब्रे (फनियर) भी बहुत होते हैं। महाभारत में जिस नागदेश का वर्णन है, वह इलाका भी यहां से दूर नहीं है। और मुझे तो यहाँ सांपों से कुछ; कुछ क्या, बहुत काफ़ी सम्पर्क पढ़ता रहता है।'

उस अँधेरे और बीहड़ रास्ते पर सांपों की चर्चा उत्साहवर्धक न थ परन्तु वकील साहब की बात में अरुचि प्रकट करना भी, जब कि वे अंधेरे में

राह दिखाने चले आ रहे थे, अशिष्टता होती। सतर्कता से हुंकारा भरता आ रहा था और वकील साहब इसे प्रस्तुत प्रसंग में मेरी रुचि का प्रमाण समझ, कहते गये—

'मुझसे पहले मेरी 'वाइफ़' का साँपों से सामीप्य और नक्षत्र-योग जान पड़ता है। चार साल पहले हम 'थपलिया' मुहल्ले में रहते थे। एक साँझ, अँधेरा घना नहीं हुआ था, 'वाइफ़' आंगन की सीढ़ियों से ऊपर की मंजिल में जा रही थीं। दूसरी सीढ़ी पर उनका पाँव पड़ा ही था कि उन्हें चप्पल के नीचे कोई चीज हिलती-सी अनुभव हुई। डर कर पाँव हटा लेने के बजाय उन्होंने शरीर का पूरा बोझ उसी पाँव पर डाल दिया और नौकर को बत्ती लाने के लिये पुकारा। नौकर जब तक बत्ती लेकर आया वे उस पाँव पर वैसे ही जोर दिये रहीं, बल्कि रेतीले पत्थर की सीढ़ी पर उन्होंने चप्पल को खूब मसल दिया।

रोशनी आने पर देखा कि चप्पल के नीचे एक छोटा-सा साँप ! भाग्य की बात कि साँप कुण्डली मारे बैठा था। उसका मुंह और अधिकांश शरीर कुण्डली में लिपटा होने के कारण चप्पल के नीचे आ गया। पूंछ का केवल पाँच छः ऊँगली जितना भाग चप्पल के बाहर छटपटा रहा था। 'वाइफ़' डर तो बहुत गईं परन्तु चिल्ला कर उछल नहीं पड़ीं। पाँव पर और अधिक बोझ डाल उन्होंने साँप को खूब कुचल दिया और तब पाँव उठाया।

पुकार सुन कर मैं आया और देखा—'हाथ भर से भी छोटा विषैला क्रेटर कुचला पड़ा है। धूसर, भूरा-सा रंग और पीठ पर काले धब्बे।

'मिट्टी का-सा भूरा रंग होने से तो ऐसे सांप का अँधेरे में दिखाई देना भी कठिन है। इसलिये सतर्कता से भी कुछ लाभ नहीं।'

प्रसंग बदलने की मेरी इच्छा की ओर ध्यान न दे वकील साहब ने आश्वासन दिया—'उसकी चाल और चमक से तो मालूम हो जाता है। रात में कई बार सांप मिले हैं और मैं उन्हें मार चुका हूँ।......अच्छा, आपने कभी हरे रंग का साँप देखा है ?'—वकील साहब ने मेरी ओर देखा।

विषम मार्ग पर नज़र गड़ाये ही मैंने उत्तर दिया—'नहीं तो !'

वकील साहब दो वर्ष पूर्व की एक घटना सुनाने लगे—'दोपहर के समय बहुत भारी बरसात होने से आँगन में इतना पानी भर गया था कि घर से पानी बाहर बहाने वाली नालियों से पानी भीतर आने लगा। रसोई में भी पानी आ रहा था। 'वाइफ़' रसोई का काम समाप्त कर चुकी थीं और स्वयं चौके में जल्दी-जल्दी भात खा रही थीं। भात कच्ची रसोई होने के कारण चौके के बाहर नहीं ले जाया जा सकता। कुछ ऊँचे बने पक्के चौके के नीचे एक मूंठ ऊँचाई तक पानी भर गया था। नौकर भी चौके के बाहर एक अटाली पर भात खा रहा था।

हम लोग साथ के कमरे में भीगती हुई चीज़ें सँभाल रहे थे। रसोई से 'साँप-साँप'—नौकर की पुकार सुनाई दी। हम लोग लाठियाँ लेकर तुरन्त पहुंचे। नौकर अटाली पर और 'वाइफ़' ऊँचे चौके में पटड़े पर घबड़ाये हुये सिमटे बैठे थे।

हम लोगों के पूछने पर 'वाइफ़' ने उत्तर दिया—'मैंने तो नहीं देखा।'

नौकर ने उत्तर दिया—'हरे रंग का बहुत बड़ा साँप रसोई की नाली से आ ा है। बराणज्यू (बहूजी) के पटड़े के नीचे गया फिर निकलते नहीं देखा।'

'वाइफ़ घबरा कर पटरे से कूद चौके से बाहर हो गई। नौकर भी बाहर कूद आया। लाठियाँ सँभाल, सतर्क हो एक बाँस से चौके में पड़ा पटड़ा उलट दिया गया।

'सचमुच एक बहुत बड़ा साँप कुण्डली मारे बैठा था। पटड़ा उलटते ही और लाठियाँ ऊपर उठते-उठते साँप तेजी से, रसोई में भरे पानी में तैरता हुआ, नाली की ओर भाग चला।'

'तैरते हुए सांप पर लाठी का वार करना व्यर्थ था। चोट पूरी न पड़ती और वह उलट कर वार करता। हम लोगों के देखते-देखते साँप भाग गया। रसोई के बाहर तो उसे खोजा ही क्या जा सकता था। सांप का रंग पकी घास की तरह बिलकुल हरा था। हरे रंग के साँप यहाँ काफी होते हैं।'

'मेरे निरन्तर हुंकारा भरते रहने से सर्पविद्या में मेरी जिज्ञासा अनुमान कर वकील साहब बोले—'इससे बढ़ कर अद्भुत एक घटना मैं आपको

सुनाता । आपने खयाल किया होगा, जिस कमरे में हम लोग बैठे थे, उसके बरामदे के नीचे खुली जगह है । बरसात बीत जाने पर वहाँ बैडिमिंटन का कोर्ट बना लेते हैं । उसके बायीं ओर नीची-सी जगह में सील रहने के कारण फूलों के बीज फेंक देने से फूलों की झाड़ियाँ खूब पनप आती हैं ।

'पिछले वर्ष अप्रैल के शुरू में एक सांझ बच्चे वहां खेल रहे थे कि किसी ने पुकारा, 'सांप-सांप !' मैं बैठा मुवक्किलों से बातें कर रहा था । चिल्लाहट सुन कर उठा ही था लड़की ने आकर कहा—'पिताजी सांप लड़ रहे हैं ।'

'बाहर जाकर देखा—बैडमिंटन के कोर्ट की बायीं ओर फूलों से गंजी क्यारी में दो काले फनियर (कोबरे) सांप, नीचे दुशाखी टहनी की तरह जुड़े, ज़मीन से डेढ़ हाथ ऊपर उठे हुए हैं । सांप नीचे आपस में बल खाये हुए थे परन्तु ऊपर दोनों के सिर एक बालिस्त से भी दूर, अलग-अलग थे । वे झूम-झूम कर, लचक-लचक कर, अपने फन पल भर के लिये मिला लेते; जैसे चूम रहे हों और फिर अलग हो एक दूसरे से आंखें मिलाये लहराने और लचकने लगते । दोनों हवा में ऐसे लहरा रहे थे जैसे बीन के स्वर पर मुग्ध सांप झूमता है । अङ्गभङ्गी और लोच के उस सौन्दर्य की बराबरी कोई भी नृत्य नहीं कर सकता और न उसका पूरा बखान करना ही सम्भव है । आप उसे काल्पनिक सौन्दर्य ही कह सकते हैं । सब लोग देख कर स्तब्ध थे और दोनों सांप अपने में भूले हुए। उन्होंने अपने चुम्बन कई बार दोहराये । अपने देखा होगा, सांप बहुत सतर्क होता है । ज़रा से खटके और आहट से भाग जाता है । परन्तु ये सांप काम-क्रीड़ा में इतने आत्म-विस्मृत थे कि भीड़ की उपस्थिति और शोर से भी बेखबर ।

'अब समस्या थी कि इन्हें मारा कैसे जाय ? सांप को मारने का कायदा है कि चोट फन पर पड़े और सिर कुचल दिया जाय ! साँप का सिर धरती पर रहने से उस पर चोट कर उसे कुचला जा सकता है । इन दोनों के सिर ऊंचे हवा में उठे हुए थे । फिर एक नहीं दो ! अगर एक बार में एक का सिर टूट भी जाता तो दूसरा अवश्य हमला करता ।

'आप जानते हैं, सांप बदला लेने के लिये मशहूर है । मीलों पीछा करता है । महाभारत में परीक्षित और तक्षक की कहानी है ही । और फिर

इस भोगातुर जोड़े में से जो भी एक बच जाता, वह कितनी बुरी तरह पीछा करता ?

'सोचा गया, जिस समय सांपों के फन जुड़े हुए हों, तीन चार लाठियों से एक साथ वार करके उनके फन तोड़ दिये जायं। उनके फन मिलने पर दो-तीन करके लाठियाँ चलाने को होते कि उनके फन अलग अलग हो लहराने लगते।

'इतने में कोई बोल उठा—''भोगातुर सांपों को मारना बहुत भारी अपराध है। सांप मर जाने पर भी प्रेत बन कर इसका बदला लेता है।—''इस बात से लोगों का साहस टूट गया। लोग कहने लगे—'' जाने दो, जाने दो। किसी का क्या बिगाड़ रहे हैं ? भगवान के जीव हैं।''

'परन्तु अपने आँगन में कोबरा सांपों के बच्चे देने क उपेक्षा करना मेरे लिये सम्भव न था। सांपनी एक बार में सैकड़ों अंडे देती है। पर अब कठिनाई यह थी कि सांपों पर लाठी चलाने के लिये कोई तैयार न हो रहा था। उससे कुछ ही दिन पहले एक घटना हो चुकी थी:—

'एक दिन रानीखेत से इधर 'मजखाली' के पास एक ड्राइवर लारी लिये चल आ रहा था। उसने सड़क को आरपार रोके कोबरा सांपों के जाड़े को भोग करते देखा। ड्राइवर ने लारी रोक दी और सड़क तङ्ग होने के कारण बैक करके (उल्टेमुंह) पीछे हट रहा था कि चौड़ी जगह देख कर लारी का मुँह घुमा ले। उसके पीछे से एक और लारी आगयी। इस लारी के ड्राइवर का नाम था। जमनासिंह। जगनासिंह ने पहले ड्राइवर से लारी लौटाने का कारण पूछा।

उत्तर सुन कर जमनासिंह ने हंस कर कहा—'सांपों का जोड़ा तेरा क्या कर लेगा ?···गाड़ी का अगला पहिया उनके सिर पर से गुजार दिया होता।···डरपोक कहीं का !'

'पहली लारी के ड्राइवर बच्चीराम ने दोनों कान छू कर उत्तर दिया—'ना भाई, न तो मैं यह पाप सिर लूं और न. नाग देवता से लड़ने की हिम्मत मुझ में है।'

'ऐसी तैसी तेरे नाग देवता की'—जमनासिंह ने उत्तर दिया और अपनी लारी आगे बढ़ा चल दिया।

'साँपों का जोड़ा अब भी उसी तरह सड़क को रोके था। जमनासिंह ने लारी को सड़क के बायें करके पहिया सांपों के सिर पर से गुज़ार दिया। दोनों सांपों के सिर और पेट बुरी तरह कुचल गये। दोनों सांप मोटे रस्सों की तरह उलझे हुए सड़क पर उछल-उछल कर छटपटाते रहे। जमनासिंह रुका भी नहीं। हंसता हुआ और सांपों को गाली देकर साथ के लोगों को समझा चला गया—'क्या लोग हैं, कीड़ों से डरते हैं।'

'जमनासिंह अलमोड़ा पहुँचते-पहुँचते कुछ सुस्त और उदास हो गया। 'टोलबार-पर' आकर उसने पर्चा के लिये गाड़ी रोकी। पर्ची की प्रतीक्षा में खड़ा-खड़ा क्लीनर से बोला—'भाई बुरा किया। सांप अपना क्या ले रहे थे।...खैर हो गया! आज नहीं तो साले कल दूसरों को काटते! और... बच्चे देते तो 'सैंकड़ों सांप और बढ़ते, और मुसीबत होती।'

'तीन मील चल, अलमोड़ा पहुंचते-पहुंचते जमनासिंह बहुत उदास हो गया। गाड़ी अड्डे पर खड़ी कर देने के बाद जिस ड्राइवर से मिलता सांपों को कुचल डालने की बात पर खेद प्रकट करने लगता। उसके मन की खिन्नता बढ़ती गयी। घर लौटते समय उदासी दूर करने के लिये ठेके की दूकान से शराब का एक अद्धा लेता गया।

'जमनासिंह ने शराब पी ली और लेट गया। आधी रात के करीब वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा—'सांप-सांप; मारो-मारो!'

पड़ोस के लोगों ने आकर देखा कि उसे ख़ूब तेज़ बुखार चढ़ा हुआ है। लोगों ने समझा नशे में या दिल पर बोझ आ जाने से डर गया है। उसे जगाकर होश में लाने का यत्न किया परन्तु वह होश में न आ सका और सुबह होते-होते उसके प्राण निकल गये!'

वकील साहब बोले—'जमनासिंह का यह किस्सा ठाकुर मातासिंह ने कह सुनाया तो भला कोई आदमी सांपों पर लाठी चलाने में मेरा साथ क्या देता? सांपों का जोड़ा अब भी निर्भय और निशंक अपनी प्रणय-लीला का नृत्य कर रहा था और सब लोग विस्मय और आतङ्क से उस भय मिश्रित सौन्दर्य को देख रहे थे। उस सङ्कट में सूझा—कोई हिन्दू तो इस समय क्या साथ देगा। अपने छोटे भाई को भेजा कि तुरन्त जाकर अपने मित्र पड़ोसी गिलबर्ट को सब बात समझा कर बन्दूक और छर्रा लेकर आने के लिये कहे।

'गिलबर्ट हिन्दुस्तानी ईसाई है; शिकार का बहुत शौकीन निशाना भी अच्छा है। परन्तु उसने आने में काफ़ी देर कर दी। मेरे प्राण सूख रहे थे कि यदि सांप चौंक कर घास में जा छिपे या किसी बिल में जा घुसे तो सदा के लिये आशंका हो जायेगी।

गिलबर्ट को पहुँचने में काफ़ी समय लगा परन्तु सांप भी अपने में मस्त, सब कुछ भूले हुए निशंक थे। वैसे ही धरती से डेढ़ हाथ ऊपर उठे, हवा में लहराते हुए, कभी आलिंगन में लिपट जाते, कभी अलग होते, चूमते और फिर अलग-अलग हो जाते।

'गिलबर्ट ने अपनी दुनाली में बारह नम्बर के छर्रे के दो कारतूस भरे और साँपों के मुंह मिलाने पर निशाना साधा। गिलबर्ट निशाना साध ही पाया था कि सांपों के फन अलग हो गये और वे एक दूसरे से आँखें मिलाये आमने-सामने लहराने लगे। गिलबर्ट दम रोके, सांपों के मुंह फिर मिलने की प्रतीक्षा में बन्दूक को साधे रहा। ज्यों ही सांपों के मुंह फिर मिले, पल भर निशाने का निश्चय कर गिलबर्ट ने लगभग एक साथ ही दोनों घोड़े दबा दिये।... दोनों सांपों के सिर प्रायः बालिस्त बालिस्त भर उड़ गये जैसे दो ऐंठती-बलखाती नालियों से लहू के फुव्वारे उड़ने लगे हों। दोनों सांप आपस में उलझते, उछलते, छटपटाते रहे।

'इन सांपों को पूंछ से पकड़ कर उठाया गया तो हाथ सिर से ऊपर तक ले जाकर लटकाने से भी उनकी टूटी हुई गर्दनें घास को छू रही थीं। दोनों सांप आठ-आठ, नौ-नौ फुट से कम न थे।'

वकील साहब ने इस विस्मयजनक घटना का प्रभाव मुझ पर देखने के लिये मेरी आँखों में देखा।

सांपों की लम्बाई के प्रति विस्मय प्रकट करने की अपेक्षा मुझे दूसरी ही उत्सुकता थी। पूछा—'गिलबर्ट का क्या हुआ?....वह भी नाग देवता के भोग में विघ्न डालने के अपराध में छटपटा कर मर गया?'

वकील साहब ने दूसरा हाथ हिला कर मुख में पान की शेष लीजि थूकते हुए उत्तर दिया—'कुछ भी नहीं! होता क्या?...वे लोग तो यह सब कुछ मानते नहीं। उसे क्यों कुछ होता? यह तो विश्वास की बात है।

विश्वास बड़ी भारी ताकत है, आप जानते ही हैं।'

'तो फिर आदमी ऐसे आत्मनाशी मिथ्या-विश्वास में फंसे ही क्यों ?'—मैंने प्रश्न किया।

वकील साहब सांपों की एक और बात सुनाना चाहते थे परन्तु मैं बार-बार मिथ्या-विश्वास से आत्महत्या की बात कर रहा था इसलिये बात उखड़ गयी··· ।

———

"जनगणमन अधिनायक हे......"

४

नगर में महात्मा गाँधी स्मारक कोष के लिये पूरे यत्न से धन-संग्रह किया जा रहा था।

गाँधी जी की महान् आत्मा के प्रति श्रद्धा से सभी लोगों ने कोष में यथा-शक्ति, अपना-अपना भाग अर्पण किया। परन्तु जनगण की श्रद्धा और शक्ति अवसर के अनुकूल पर्याप्त न उतर रही थी। इसलिये काँग्रेस के कार्यकर्त्ताओं की अपेक्षा सरकारी कार्यकर्त्ताओं के प्रभाव का सहारा लेना आवश्यक हो रहा था।

कहावत तो है कि श्रद्धा से दी गई एक पाई और लाख रुपये बराबर होते हैं; परन्तु यह बात कहने भर को है। गंगा-किनारे पिंड देने वाले पंडे, कचहरी में इनाम माँगने वाले अहलकार, थाने में दस्तूरी लेने वाले मुंशी जी और काँग्रेस के लिये चंदा माँगने वाले नेता, सभा दाता की श्रद्धा को सदा सिक्कों की गिनती से ही आँकते हैं। वैसी ही बात इस समय "गाँधी स्मारक कोष" में अर्पण की गई रकमों के बारे में भी हो रही थी। काँग्रेस के नेता और सरकारी अफ़सर, सभी लोग इस रकम को एक आदर-सूचक संख्या तक पहुँचा देने के लिये चिन्तित थे, और इसके लिये एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रहे थे।

नेताओं और अफ़सरों की चिन्ता के लिये कारण भी कम न था। कारण यह था कि प्रान्त के प्रधान मंत्री अपने दौरे के दौरान में इस नगर में पधार कर नगर की जनता को गौरव प्रदान करने वाले थे। इसी शुभ अवसर पर नगर की जनता की ओर से यह रकम उनके हाथ में सौंपी जाने वाली थी। यह रकम प्रधान मन्त्री की स्थिति और सम्मान के अनुकूल होनी आवश्यक थी।

नगर के सरकारी अफ़सरों और नेताओं की, इसलिये नगर की जनता की भी, यह महत्वकांक्षा थी कि प्रधान मन्त्री के नगर में पधारने के सुअवसर पर उनके स्वागत और अभिनन्दन के समय उनका सत्कार जलपान से भी किया जाय। नेताओं और अफ़सरों ने मिल कर जलपान के प्रबन्ध और व्यय का अनुमान किया और यह भी सोचा कि इस जलपान में सम्मिलित होने का गौरव किन-किन लोगों को प्रदान किया जाय।

कुछ लोगों ने प्रस्ताव किया कि प्रधान मन्त्री के सत्कार में दिये जाने वाले जलपान में उन सभी लोगों को आमन्त्रित करना उचित है जो ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध कांग्रेस-द्वारा चलाये गये संघर्ष में भाग लेते रहे हैं, अथवा राजनैतिक अपराध में जेल की सजा पा चुके हैं। ऐसे लोगों की सूचियां बनाई गईं। इनकी संख्या उचित अनुमान से ऊपर जा पहुँची। कुछ लोगों के राजनैतिक कार्य करते रहने और जेल हो आने की प्रमाणिकता के बारे में मतभेद और विवाद भी था। कुछ लोग ऐसे भी थे, विशेष कर सरकारी अफसर जिनके लिये स्वतन्त्रता के संग्राम में भाग लेते रहने और जेल की सजा पा चुकने की शर्त लगाना उचित न जान पड़ रहा था।

इतने बड़े जलपान के लिये व्यय के अतिरिक्त प्रबन्ध समस्या भी सरल न थी। शामियाने लखनऊ से ही मँगाने पड़ते। प्रधान मन्त्री, उनके संगी-साथी, कलेक्टर और डिप्टी कलेक्टरों को जलपान कुर्सियों पर ही देना उचित था। परन्तु सैकड़ों हजारों व्यक्तियों के लिये मेज़ों-कुर्सियों का प्रबन्ध करना क्या हँसी-ठट्ठा है? तिस पर ऐसे लोगों के लिये, जिन्होंने जीवन में कभी मेज़-कुर्सी का व्यवहार किया ही न हो!

कांग्रेसी नेताओं और सरकारी अफ़सरों को इस संकट से "राय बहादुर साहब" ने उबारा। उन्होंने सुझाव रखा कि प्रधान मन्त्री नगर की ओर से उनके अतिथि हों। वे प्रधान मन्त्री, उनके संगियों, स्थानीय नेताओं और सरकारी अफसरों के जलपान का प्रबन्ध अपने व्यय से अपनी हवेली में करने के लिये तैयार हैं। राय बहादुर गांधी स्मारक निधि में पांच हजार रुपया पहले ही दे चुके थे। प्रधान मन्त्री के अपनी हवेली में जलपान के लिये आने पर वे पाँच हजार रुपया और प्रधान मन्त्री को किसी भी सार्वजनिक कार्य में व्यय के लिये अर्पण करना चाहते थे।

समस्या का इससे उचित समाधान और क्या हो सकता था ? ऐसा ही हुआ भी। प्रधान मन्त्री नगर में पधारे। स्वागत के समय सरकारी अफसरों, स्थानीय नेताओं और प्रतिष्ठित लोगों से उन का परिचय कराया गया। गांधी स्मारक निधि के लिये नगर की ओर से बीस हज़ार रुपये की थैली उन्हें सौंपी गई।

प्रधान मन्त्री के आगमन से कई दिन पूर्व ही, नगर और आस-पास के गांवों में डुग्गी पीट कर जनता को प्रधान मन्त्री के आने के समय और तिथि की सूचना देकर अनुरोध किया गया था—"आप लोग बड़ी-से-बड़ी संख्या में आकर, अपने नेताओं का दर्शन और आदर कीजिये और उनके उपदेश से लाभ उठाइये।"

नगर और आस-पास के गांवों की भीड़ प्रधान मन्त्री के दर्शन और स्वागत का समारोह देखने के लिये टूट पड़ी। पुलिस बड़ी सतर्कता से भीड़ का नियन्त्रण कर रही थी और लाठी-चार्ज की धमकी देकर, उन्हें पीछे रोके हुये थी।

प्रधान मन्त्री ने गांधी स्मारक निधि में बीस हज़ार रुपये की रकम देने के लिये जनता की उदारता की प्रशंसा कर धन्यवाद दिया और कहा—"इस पुण्य कार्य में आप लोग यथा-शक्ति अधिक-से-अधिक जितना भी धन दे सकें, दें। इसके लिये आपको इस लोक में राजनैतिक और परलोक में धार्मिक, दोनों ही प्रकार का पुण्य प्राप्त होगा।"

इसके अतिरिक्त प्रधान मंत्री ने जनता को सावधान किया—"जनता का यह स्वराज्य जनता की कुर्बानियों का फल है और यह राज जनता की सहायता से ही कायम रह सकता है। इसलिये जनता का कर्त्तव्य है, कि पूर्णरूप से सरकारी अनुशासन में रहें। अब सरकारी अफ़सर आपके सेवक हैं, इसलिये आप लोगों को इनका हुक्म पूरी तरह से मानना चाहिये। आप अपने नेताओं और सरकारी अफ़सरों को स्वराज्य की व्यवस्था क़ायम रखने में उनका हुक्म मानकर ही सहयोग दे सकते हैं। स्वराज्य के प्रति जनता का यही कर्त्तव्य है।"

प्रधान मंत्री का व्याख्यान समाप्त होते ही, सरकारी अफ़सरों और

काँग्रेसी नेताओं ने जनता को ताली बजाने का संकेत किया। मैदान तालियों से गूंज उठा।

काँग्रेस के लगान बन्दी आन्दोलन में भाग ले कर बरबाद हो जाने वाले अधिकांश किसान और १६४२ में पुलिस के आतंक का शिकार बनी जनता पुलिस की लैन-डोरी के पीछे दबी खड़ी थी। उत्साह से ताली बजने के कारण जानने के लिये, यह भीड़ उत्सुकता से आगे बढ़ आना चाहती थी। परन्तु व्यवस्था कायम रखने वाली पुलिस ने इसे पीछे धकेल दिया।

स्वयंसेवकों ने जनता को सूचना दी, कि "प्रधान मंत्री का व्याख्यान समाप्त हो चुका है। अब आप लोग प्रधान मंत्री के दर्शन करने के लिये रायबहादुर साहब के मकान को जाने वाली सड़क के दोनों ओर खड़े हो जाइये।"

रायबहादुर की हवेली की ओर जाने वाली सड़क जनता की उमड़ती भीड़ से दोनों ओर पटी हुई थी। स्वयंसेवक और सरकारी अफ़सर, हाथ में लाउड स्पीकर ले, "महात्मा गांधी की जय! पं० जवाहरलाल नेहरू की जय! सरदार पटेल की जय! "प्रधान मंत्री की जय!" के नारे लगा रहे थे। प्रधान मंत्री मोटर में. फूलों से दबे, मुस्करा-मुस्करा कर, दोनों हाथ जोड़, जनता के अभिवादन स्वीकार कर रहे थे।

रायसाहब की हवेली तिरंगी सजावट से इन्द्रधनुष बनी हुई थी। जल-पान के लिये हवेली के एक बड़े हाल में बढ़िया मेज-कुर्सियों का प्रबन्ध किया गया था। जलपान अवसर के अनुरूप चाँदी के बर्तनों में प्रस्तुत किया गया था। जलपान के बाद रायबहादुर ने दक्षिणा-स्वरूप, अपने बचन के अनुसार पाँच हजार की रकम, नगर की ओर से, अपने हाथों से प्रधान मत्री को भेंट कर दी।

चौथा पहर लग रहा था। प्रधान मंत्री को इस नगर के लिये निश्चित किये गये समय से अधिक विलम्ब यहाँ हो चुका था। वे चलने के लिये उतावले हो रहे थे। परन्तु नगर के अनेक सम्मानित व्यक्ति बात करने का यह सुअवसर पाकर उन्हें घेरे खड़े थे। इस भीड़ की उपेक्षा कर, प्रधान मंत्री को दरवाज़े की ओर बढ़ते देख, राय बहादुर साहब ने सम्मुख आ,

हाथ जोड़ कर विनय की—"दो मिनट और आपको विलम्ब होगा। मेरी लड़कियाँ 'जन गण मन' वाला गीत आपको सुनाना चाहती हैं। बच्चियों ने बहुत परिश्रम से गीत आपके लिये तैयार किया है। उसी समय ज़रा फोटो भी हो जायगा।"

प्रधान मंत्री राष्ट्रीय गीत की अवहेलना न कर सकते थे। थकावट से एक जम्हाई ले, वे छड़ी की टेक लगा, खड़े रह गये। तुरन्त रायबहादुर साहब की पन्द्रह और तेरह वर्ष की दोनों पुत्रियाँ शुद्ध खादी की श्री गांधी खद्दर भण्डार से ख़रीदी हुई, तिरंगे किनारे वाली साड़ियाँ पहने, उपस्थित हुईं। आँखें नीची झुका और हाथ जोड़ कर, कुछ काँपते हुये स्वर में उन्हों-ने 'जन गण मन अधिनायक जय हे, भारत भाग्य विधाता' गीत सुना दिया।

गीत समाप्त हो जाने पर, रायबहादुर साहब ने हाथ जोड़, विनय और संकोच से मुस्करा कर, प्रधान मंत्री से निवेदन किया—"जल्दी में बच्चियों से गाना कुछ अच्छा तैयार नहीं हो सका। सुर नया था। समय कम था। लाट हैलेट साहब जब तशरीफ लाये थे, इन लड़कियों ने 'गाड सेव दि किंग' बहुत अच्छा सुनाया था। लाट साहब ने कई जगह इनकी तारीफ़ की थी……।"

अलमोड़ा का ज़िला पहाड़ी देश है। कोई गांव पहाड़ की पीठ पर जगह पा बस गया है तो कोई ढलवान पर और कोई तलहटी में। गांव छोटे-छोटे, सूने-सूने और चुप-चुप से हैं। परन्तु कुआर की संक्रान्ति की संध्या में यह गांव उत्सव की प्रसन्नता से किलक उठते हैं। गांव के समीप की सबसे ऊंची जगह या टीले पर घास-फूस और ईंधन का एक रावण सा बनाया जाता है। सूर्यास्त के समय उसमें आग दे दी जाती है और दूर-दूर तक की जगहें, खेत और जंगल प्रज्वलित हो उठते हैं। गांवों में स्पर्धा रहती है कि किस गांव के खतड़ुआ की लपटें आकाश में अधिक ऊंची उठीं! गांव के लड़के इस होली के चारों ओर नाच नाच कर गाते हैं:—

"भैल्लो जी भैलो, भैल्लो खतड़ुआ
गै की जीत, खतड़ुआ की हार।
गै पड़ो स्योल, खतड़ पड़ो भ्योल!"

यह उत्सव खतड़ुआ कहलाता है और अलमोड़ा के राजा लक्ष्मीचंद की गढ़वाल पर विजय की स्मृति के उपलक्ष में वंश परम्परा से चला आ रहा है।

गढ़वाल और अलमोड़ा का यह युद्ध छोटी मोटी लड़ाई नहीं थी। अंग्रेज़ी राज में अंग्रेज़ों की प्रजा बन कर अलमोड़ा और गढ़वाल दोनों ही ज़िलों के लोग अंग्रेज़ों की नौकरी कर सुख शान्ति से रहने लगे परन्तु उससे पहले दोनों ज़िलों की लड़ाई परम्परागत बात थी। दोनों ही दूसरे को पराजित कर अपना दास बना लेने का यत्न करते रहते थे। उस पुराने

वैर का प्रभाव अब भी शेष है। अलमोड़ा के राजा लक्ष्मीचन्द ने भी गढ़वाल पर एक नहीं, सात बार चढ़ाई की और असफल रहे। खतड़ुआ की विजय—वह विजय चाहे जैसी भी रही हो, आठवीं चढ़ान का परिणाम थी।

राजा लक्ष्मीचन्द के गुरु बरस दो बरस तंत्र साधना कर मारण मंत्र का जाप करते रहते। राजा अपने गुरु से यह मंत्र ले, देवताओं के अशीर्वाद की सहायता से अपने आपको अन्य मनुष्यों से अधिक सामर्थ्यवान समझ, पराया देश जीत लेने के क्षात्र धर्म का पालन करने के लिये गढ़वाल पर चढ़ाई करते और अपने घर-जमीन की रक्षा के लिये लड़ने वाले गढ़वालियों से हार कर लौट आते।

बागेश्वर में गोमती नदी के किनारे राजा लक्ष्मीचन्द का एक किला था। राजा इस किले में जा बैठते और अपनी सेना को नदी पार गढ़वाल जीतने के लिये भेज देते। अपनी सेना के पराजय का समाचार पा वे यह किला छोड़ अलमोड़ा भाग जाते।

गढ़वाल पर चढ़ाई के इन युद्धों के कारण स्थानीय प्रजा को अनेक यातनायें और असुविधायें झेलनी पड़तीं। विजय की महत्वाकांक्षा में उचित-अनुचित के विचार से शून्य हो गये राजा के अत्याचार और अपनी जान के लिये उसके भय को देख; लोग उससे घृणा करने लगे। स्थानीय प्रजा बागीश्वर में गोमती किनारे के किले को, आपस में "स्याल बुंगा" (गीदड़ का भिटा) कह कर उपहास करती थी।

राजा लक्ष्मीचन्द के छः बार पराजित हो जाने पर राज गुरु ने महाराज को बहुत प्रबल मंत्र देकर निश्चित विजय का विश्वास दिलाया। महाराज अलमोड़ा से अपनी सम्पूर्ण शक्ति ले बागीश्वर पहुंचे और गढ़वाल के सेनापति खतड़सिंह की सेना पर आक्रमण करने के लिये उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सेना नदी पार भेज दी। राजा को अपनी विजय का इतना विश्वास था कि उन्होंने अपने किले (स्याल बुंगा) की रक्षा के लिये भी सिपाही न रखे और अपने शरीर रक्षकों को भी सेना के साथ खतड़सिंह की सेना से लड़ने के लिये भेज दिया।

राजा लक्ष्मीचन्द ने जैसी आशा और तैयारी से गढ़वाली सेना पर आक्रमण किया था वैसी ही गहरी हार उनकी हुई ।

सूर्यास्त के अंधेरे में नदी पार से आये राजा के भेदियों ने समाचार दिया कि महाराज की सेना के पांव उखड़ गये हैं, सैकड़ों सिपाही खेत रहे और गढ़वाली सरदार खतड़सिंह ने अलमोड़ा की सेना को घेर लिया है । खतड़सिंह मारो मार करता गोमती के किनारे पहुंच गया है ; नदी पार करना ही चाहता है ।

राजा लक्ष्मीचन्द्र के हाथ पांव फूल गये । सूर्योदय तक किले में बने हना आशंकापूर्ण था । राजा ने अपनी रसोई के दारोगा पांड़े को बुलावाया। पांड़े राजा का विश्वासपात्र था । भोजन में राजा को कोई विष न दे दे और महल में कोई उन पर गुप्त आक्रमण न कर दे, इस बात की जिम्मेवारी दारोगा पांडे पर ही थी ।

राजा बदहवासी में पांडे के आने से पहले ही किले के गुप्त द्वार के समीप खड़े सेवकों पर घोड़ा जल्दी लाने के लिये बिगड़ रहे थे ।

पाँडे ने दबे स्वर में राजा को समझाया—"महाराज, ऐसी भूल न कीजिये ! क़िले के बाहर की प्रजा बिगड़ी हुई है । युद्ध के लिये हमारी सेना ने उनका अन्न और पशु सब छीन लिया है । हमें हारा देख कर वह बदला लेने के लिए चढ़ दौड़ेगी । राजा को भय से भागते देख उनके मन में राजा के लिये क्या आदर रह जायगा ? दस आदमी पत्थर लेकर ही घेर लें तो महाराज के प्राण बचाना सम्भव नहीं रहेगा । खतड़ सिंह की सेना पीछा करेगी तो सब लोग उंगली उठाकर आपके भागने की राह दिखा देंगे ।"

महाराज और भी भयभीत हो गये । पाँडे ने सलाह दी, महाराज भेस बदल कर भागिये । राज मुकुट और तलवार छिपा लीजिये ।

महाराज और पाँडे सेवक का भेस बना नंगे पाँव क़िले के गुप्त द्वार से भाग पहाड़ी पकडंडी पर चले जा रहे थे । पैदल चलने का अभ्यास न होने के कारण पाँच ही मील चलने पर महाराज का दम फूल गया । माघ की रात के जाड़े की सनसनाती ठन्डी हवा में भी पसीने से उनके शरीर के कपड़े

भीग रहे थे और भीगे कपड़ों में से ठन्डी हवा लगने पर उनका स्थूल शरीर हड्डियों तक सिहिर उठता। उनके कोमल नंगे पाँव काँटों और कंकरों से लहूलुहान हो गये। प्रति क्षण घोड़ों पर सवार शत्रुओं के पीछे से आकर पकड़ लेने के भय से भी कंपकंपी आ रही थी। महाराज की आँखों में आँसू आ गये और उन्होंने आगे क़दम उठा सकने में असामर्थ्य प्रकट कर दिया।

पाँडे महाराज को सहारा देकर कौसानी की चढ़ाई पर चीड़ों के जंगलों में से लिये जा रहा था। दो मील जाकर महाराज के लिये आगे बढ़ना बिलकुल असम्भव हो गया। महाराज की अवस्था देख पांडे ने उन्हें एक झाड़ी की आड़ में बैठा दिया और स्वयम समीप के गांव में महाराज के लिये सवारी खोजने गया।

पांडे ने एक किसान के घर जा अपना व्यथा सुनाई कि वह अपने रोगी मालिक को, वैद्यों से इलाज कराने के लिये अलमोड़ा ले जा रहा था। रास्ते में उसके मालिक पण्डित की अवस्था खराब हो गई है। कोई दो आदमी उसे कंडी पर उठा कर अलमोड़ा पहुँचा दें तो वह अपने मालिक से एक-एक मुहर दोनों आदमियों को दिला देगा। इसके अतिरिक्त पांड़े ने किसानों को दुखी ब्राह्मण के प्राण बचाने के महान पुण्य और स्वर्ग में उस पुण्य के लाभ का भी विश्वास दिलाया।

पांडे के समझाने और अनुनय-विनय से और मोहरों के लोभ से किसानों ने उसी समय बांस फाड़ कर मनुष्य के बैठने लायक एक कंडी तैयार की। पांडे ने भय से कांपते महाराज को कंडी में बैठा कर एक चादर ओढ़ा द । कंडी को एक किसान ने रस्सियों से अपनी पीठ पर बांध लिया और वे लोग अलमोड़ा की ओर बढने लगे।

महाराज का सुख में पला शरीर खूब स्थूल था। जब एक किसान बोझ से हांफ जाता तो दूसरा कंडी को अपनी पीठ पर ले लेता।

पाड़े कंडी के साथ साथ पैदल चल रहा था। महाराज का मन भय से कांप उठता जगल में किसी भी प्रकार की आहट सुनाई देने पर, हवा के कारण किसी वृक्ष से सूखी लकड़ी या चीड़ का फूल टपक पड़ने से उन्हें शत्रु के आ पहुँचने की आशंका होने लगती। यदि पगडण्डी पर किसानों के पांव से ठुकराकर कोई पत्थर ढलवान पर लुढ़क जाता तो उसके खट्ट-खट्ट

शब्द से राजा को यही अनुमान होता कि खतड़सिंह अपना 'गूंट' घोड़ा दौड़ाता हुआ उसके पीछे चला आरहा है।

राजा के स्थूल शरीर के भारी बोझ को उठाकर जितना तेज़ चला जा सकता था, किसान चल रहे थे। परन्तु खतड़सिंह के हाथ पड़ जाने के भय से व्याकुल राजा को किसानों की चाल बहुत धीमी जान पड़ रही थी। वह बार बार किसानों से जल्दी चलने के लिये कह रहा था और अपनी बात के प्रभाव से संतुष्ट न होकर बिगड़ भी रहा था।

किसानों को यह मालूम न था कि उनके कंधों पर असहाय अवस्था में ढोया जाने वाला, भय का रोगी व्यक्ति उनके देश का महाराजा है। राजा की चिड़चिड़ाहट से वे किसान भी चिढ़ने लगे। पहले तो अपने सिर पर सवार व्यक्ति की बार बार चेतावनी का वे उत्तर देते रहे—"चल तो रहे हैं भाई, घबराते क्यों हो!......जितना चलते बनता है, चलते हैं; तुम्हारा मन नहीं मानता तो पैदल चल देखो!"

स्वयं जल्दी पैदल चलने का यत्न न कर राजा किसानों पर अधिक जल्दी करने के लिए बिगड़ता ही गया। इस पर किसान भी बिगड़ उठे और झल्ला कर बोले—"दो लाश जितना बोझ है; जाने कितना खा-खा कर बीमार पड़ा है!......अपाहिज कहीं का! हमारी गर्दन पर चढ़ा बैठा है, हमीं पर टर्रा रहा है!......बहुत बकेगा तो अभी खड्ड में ढकेल देंगे!... हम बैठते हैं कंडी पर, देखें तू कैसा घोड़े की चाल चलता है।"

कंडी के साथ पैदल चलते पांडे ने बीच बचाव किया—"अरे भाई रोगी और बाल, वृद्ध की बात का बुरा नहीं मानते। मालिक कष्ट में है आराम की जगह पहुंच कर विश्राम चाहता है; इसलिये जल्दी कर रहा है। मालिक का मन रखने के लिये थोड़ा और जल्दी कदम उठा लो!"

किसान हांफ गये थे परन्तु पांडे के कहने से और जल्दी चलने का यत्न करने लगे। महाराज का संतोष इस पर भी न हुआ। मन की व्याकुलता और उतावली में वे किसानों को और जल्दी चलाने के लिये गाली दे बैठे।

किसानों को भी क्रोध आगया। उन्होंने झमाके से कंडी कंधे से उतार

दी। गाली से क्षुब्ध दूसरा किसान एक बड़ा पत्थर उठा कंडी में बैठे रोगी की ओर लपका। यह संकट देख पांडे ने अपनी चादर में छिपे म्यान से तलवार खींच ली और ललकारा—"खबरदार!" दोनों किसान सहम कर पीछे हट गये।

पांडे ने तलवार दिखा कर दोनों किसानों को समझाया—"यह अलमोड़ा के महाराज हैं। गढ़वाली सेनापति खतड़सिंह बागेश्वर के किले पर चढ़ आया है। इसलिये महाराज अलमोड़ा जा रहे हैं। अगर महाराज का हुक्म मानने में तू-तड़ाक करोगे, अभी सिर काट कर फेंक दूंगा। महाराज की सेवा करोगे, कंडी को अलमोड़ा पहुँचा दोगे तो सौ सौ अशर्फ़ी इनाम मिलेगी।"

महाराज का नाम सुन और सामने नंगी तलवार देख बोझ उठाने के पसीने से भीगे किसानों को कंपकपा छूट गई। एक ने आगे बढ़ चुपचाप कंडी उठा ली और अपने सामर्थ्य से अधिक बल से तेज़ चलने लगा। वह लगभग दो सौ कदम ही चल पाया था कि उसके कदम लड़खड़ा गये। पांड़े के हुक्म से दूसरे किसान ने कंडी लेली परन्तु कुछ ही दूर जाकर वह किसान भी गिर पड़ा।

किसानों ने गिड़गिड़ा कर बिनती की—"अन्नदाता, यहाँ 'खेलधार' के पास 'आगर' में ताम्बा खोदने वाले बहुत आदमी हैं। चार-छः आदमी और बुला लिये जांय तो कंडी जल्दी-जल्दी अलमोड़ा पहुँच जायगी।"

किसानों के राह दिखाने से पांडे 'आगर' जाकर और चार आदमियों को महाराज की सेवा के लिये पकड़ लाया। कंडी के अगल बगल दो बांस लगा दिये गये और बारी-बारी से दो किसान कंडी को उठाकर चलने लगे। परन्तु राह सँकरी और चढ़ाई बहुत आड़ी थी इसलिये कंडी बहुत दूर न जा पाई और पूरब की पहाड़ियों के ऊपर सूर्योदय की लाली फैल गई। नीचे तलैटी और घाटियों में किसान लोग खेतों में निकलते दिखाई देने लगे।

पांडे ने कंडी को रोक लिया और सब लोगों को बांसों के एक झाड़ में छिप जाने के लिये कहा। महाराज को पांडे ने समझाया—"महाराज देख ही रहे हैं कि लोग-बाग बागी हो रहे हैं, महाराज के भागने की बात

जानेंगे तो और बिगड़ उठेंगे।......दुश्मन पीछा कर रहा हो तो?......जब तक अलमोड़ा, अपने गढ़ में न पहुँच जांय, खतरा झेलना ठीक नहीं।"

भूखे किसान रोटी भात की खोज में आस पास के गांव में जाना चाहते थे। पांडे ने उन लोगों को जाने नहीं दिया कि फिर लौटें, न लौटें! या महाराज के भागने की बात का बकवाद करते फिरें! पांडे ने एक चादर बिछा दी। महाराज कंडी से निकल चादर पर लेट गये और पांडे किसी का भी विश्वास न कर तलवार ले महाराज की रक्षा के लिये पहरे पर खड़ा रहा।

पिछली संध्या से ही महाराज कुछ खा-पी न पाये थे। कुछ समय पश्चात् उनके भूख से व्याकुल होने पर पांडे को खाने लायक चीज़ की खोज में समीप के गांव की ओर स्वयं ही जाना पड़ा। जाते समय वह महाराज से कंडी उठाने वाले किसानों पर आंख रखे रहने की प्रार्थना कर गया। पांडे को गये विलम्ब न हुआ था कि कंडी पर झकझोरे जाने से थके शरीर महाराज वृक्षों से छनकर आती हुई जाड़े की मधुर घाम में औंघाने लगे। औंघ से गर्दन झुकने पर एक दो बार तो वे चैतन्य हो गये परन्तु फिर उनकी नाक बजने लगी।

पांडे का अंकुश हटा अनुभव कर और महाराज को नींद में बेखबर देख एक नौजवान किसान ने चुपके से भाग चलने की बात सुझाई। परन्तु दूसरे प्रौढ़ साथी ने चेतावनी दी—"पेड़ के तले से भाग जाओगे। परन्तु देश छोड़ कर कहाँ जाओगे? यह तो राजा है। पेड़ की छाया दस हाथ जगह घेरती है राजा की छाया दस सो कोस! भाग कर कहाँ जाओगे?"

इस चेतावनी से निराश होकर तीसरा किसान बोला—"पापी राज आपु लै चोर की चार भाजनौछ, हमन लै दुख दीनौछ—(यह राजा पापी है, स्वयं डर कर चोर की तरह भाग रहा है, हमें भी दुख दे रहा है।)"

एक और बोल उठा—"राजा क्या अपाहिज है। एक तो इसे सिर पर उठाओ दूसरे हमीं पर गुर्राता है। यह क्या देश का राजा है? राजा होता है जैसे शेर जगल का राजा होता है?...दहाड़ दे तो जंगल कांप जाय! यह तो एक झांपड़ की मार नहीं खाद का ढेर है। गढ़वालियों के डर से भाग रहा है। शेर राजा तो है, खतड़सिंह जिसकी दहाड़ से इसका पेशाब निकल रहा है। बड़ा बहादुर बनता है दूसरों को तलवार थमाकर। अब लोग इसकी

बहादुरी जान गये ! अब इस "लखुली बिलारी" (डरपोक बिल्ली) की कौन परवाह करेगा ?"

समीप के टीले पर पगडंडी से पाँडे को उतरते देख किसान लोग चुप हो गये। स्वयं चुप हो जाने पर उन्होंने जाना कि महाराज के खुर्राटे भरने का शब्द भी नहीं आ रहा। भय और भूख से व्याकुल महाराज को नींद देर तक नहीं आई थी। वे यों ही औंघ और जाग रहे थे। किसानों के मुख से अपनी निन्दा की बात कान में पड़ने के बाद उनकी औंघ जाती रही थी। जब किसानों ने जाना कि महाराज ने उनकी बात सुन ली होगी, तो भय से उनके प्राण सूख गये।

किसानों की बात से महाराज का मन ग्लानि से क्षुब्ध हो गया। भोजन में उन्हें रुचि न रही थी परन्तु भूख की पीड़ा के कारण उन्होंने पाँडे का लाया कुछ भोजन जैसे तैसे खा लिया और बोले—"अब मैं अलमोड़ा नहीं जाऊँगा। तुम इन किसानों को अपने घर लौट जाने दो! जब मैं "लखुली बिलारी" हो गया तो अब शेरों से क्या लड़ूंगा। अभी बात आठ-दस आदमियों तक है कल देश भर में फैलेगी। इस जोशी (राज पण्डित) ने मुझे बहुत धोका दिया। इसकी देवी का मन्त्र झूठा है। देवी गढ़वालियों से प्रसन्न है, मुझसे नाराज़। भगवान की ऐसी ही इच्छा है, तो ऐसा ही होगा। कोई क्या कर सकता है? मैं यहाँ जंगल में साधु बनकर अपने दिन काट लूँगा।"

पांडे ने राजा के पांव पकड़ लिये और बोला—"महाराज, यह क्या सर्वनाश कर रहे हैं? मनुष्य अपनी इच्छा से राजा, भिखारी और साधु नहीं बनता। यह सब भगवान की माया है; उनका न्याय है। अन्नदाता, हजारों आदमी आपकी छाया में पलते, बसते हैं। अच्छे बुरे दिन सभी के आते हैं। इस कष्ट और अपमान से दिल छोटा न कीजिये। यों तो देवता भी पत्थर की मूरत ही होता है! मनुष्य उसे उठा कर चाहे जहां फेंक दे! मूर्ति को देवता मान लेने पर उसमें देवता की शक्ति निवास करती है; उसका भय होता है, उसकी पूजा होती है। महाराज, ऐसे ही राजा में शक्ति, अधिकार और भय निवास करते हैं। राजधानी और किले से बाहर निकला राजा मन्दिर से उखड़े देवता के समान होता है। राजधानी में पहुंच, राजदण्ड हाथ में ले आप भय और निर्बलता अनुभव नहीं करेंगे।

सूर्यास्त के पश्चात जब आसपास के खेत और जंगल निर्जन हो गये और सब ओर अंधेरा छा गया, महाराज बड़ी अनिच्छा से कंडी में बैठे। किसान कंडी को उठा कर अलमोड़ा की ओर चलने लगे। रात के तीसरे पहर वे अलमोड़ा पहुंच गये और राजा ने पांडे के साथ गुप्तद्वार से राजमहल में प्रवेश किया।

राजा ने तुरंत जोशी (राज पंडित) को बुलवा कर क्रोध प्रकट किया--"यह है तुम्हारी मंत्र-शक्ति ? एक बार नहीं सात बार तुमने मुझे धोखा दिया। तुम बहुत बड़े देवी के भक्त और पण्डित बनते हो ! गढ़वाली पंडितों की तंत्र-शक्ति तुमसे अधिक है। देवी उनके बस है। तुम केवल बतंगड़ बनाना जानते हो ! देवी की शक्ति की सहायता का विश्वास दिला दिला कर तुमने मेरा सर्वनाश कर दिया। तुम्हारी देवी कितना रक्त पान करके संतुष्ट होगी ? मैं तुम्हारी देवी को तुम्हारी ही बलि अर्पण करके संतुष्ट करूंगा।" राजा ने क्रोध में अपनी तलवार की मूठ पर हाथ रखा।

जोशी राजा का क्रोध देख कर भी भयभीत नहीं हुए। राजा की आखों में आखें डाल गम्भीर स्वर में वे बोले—"महाराज, मनुष्य के साहस की परीक्षा असफलता और विपद में ही होती है। हाथ में पकड़ी हुई तलवार की शक्ति पर ही भरोसा नहीं किया जा सकता। उससे बड़ी शक्ति विश्वास की शक्ति है। यदि ब्राह्मण को ब्राह्मण न माना जाय तो वह ब्राह्मण नहीं रहता, यदि देवता को देवता न माना जाय तो वह देवता नहीं रहता और राजा को राजा न माना जाय तो वह राजा नहीं रहता। देवी तो गढ़वाली राजा की भी है और अलमोड़ा के महाराज की भी है। महाराज तलवार तो सभी लोगों के म्यान में रहती है परन्तु दांव अपना अपना होता है। ऐसे ही देवी की शक्ति का उपयोग भी अपनी अपनी बुद्धि से होता है। देवता का आशीर्वाद पाने के लिये ब्राह्मण भोजन करता है, क्षत्रिय भोजन कराता है, शूद्र भोजन उत्पन्न करता है और पशु अपने प्राण देता है; यह तो शास्त्र और विश्वास की मर्यादा है। महाराज शक्ति केवल देने से नहीं प्राप्त होती, उसे प्राप्त करना होता है। मैंने तो तंत्र साधना से महाराज के लिये देवी का आशीर्वाद प्राप्त किया। इसलिये महाराज युद्ध में शत्रु के जीत जाने पर भी शत्रु के हाथ नहीं पड़े, सकुशल अपने गढ़ में आन पहुंचे। यह महाराज पर देवी की कृपा का ही फल है।

महाराज गोमती पार आप की सेना के पांव उखड़ते ही देवी ने गाय के रूप में मुझे दर्शन देकर आज्ञा दी—"तेरे राजा का पुण्य अभी युद्ध में विजय के लिये पूरा नहीं है। पिछले जन्म में राजा ने गाय ब्राह्मण को दुख दिया है। ब्राह्मण की यथेष्ट सेवा कर गाय की ध्वजा ले वह युद्ध करेगा तो मैं उससे प्रसन्न हूंगी, उसे विजय प्राप्त होगी। महाराज यदि ब्राह्मण पर हाथ उठायेंगे तो शक्तिमति देवी महाराज के कोट में भी उन्हें भस्म कर देगी।"—जोशी की बात से महाराज स्तब्ध रह गये।

राजा पर अपनी बात का प्रभाव देख जोशी बोला—"महाराज, देवी ने मुझे आज्ञा दी है कि राज-लक्ष्मी सहस्त्र चरण होती है उसके लिये सहस्त्रों लोगों का विश्वास और सहयोग प्राप्त होना चाहिये। उसके लिये ब्राह्मण के आशीर्वाद और क्षत्रिय की तलवार के बल की आवश्यकता है इस बात की आवश्यकता है कि प्रजा महाराज को मनुष्य की शक्ति से बड़ा, देवी की शक्ति का पात्र समझे। महाराज की शक्ति को अपनी शक्ति से बड़ा महाराज की बुद्धि को अपनी बुद्धि से बड़ा और महाराज की भक्ति को बड़ा समझे। महाराज तभी अजेय हो सकते हैं।"

राजा ने निराशा से सिर हिला कर उत्तर दिया—"नहीं, नहीं, अब विजय मेरे भाग्य में नहीं है। अब लोग मुझे सात बार हार कर भागा हुआ सियार समझते हैं, लोग मुझे डरपोक बिल्ली समझते हैं। किसान भी मेरा अपमान करते हैं! लोगों ने मुझे भागते हुये देखा है।" राजा ने मार्ग में सुनी किसानों की बातचीत जोशी को सुनाई और कहा अब वे साधू होकर जंगल में चले जांयगे।

जोशी ने राजा को फिर समझाया—महाराज, बुद्धिमान अपनी हार से भी लाभ उठाता है और मूर्ख लोग अपनी विजय से भी लाभ नहीं उठा सकते; महाराज, यही राजनीति है। महाराज को जिन आंखों ने भगाते देखा है उन आंखों को फूट जाना चाहिये! जिस जिह्वा ने महाराज का अपमान किया है, उसे कट जाना चाहिये! शास्त्र में लिखा है, जिन लोगों ने विश्वपति महादेव को रमण करते देखा था वे जड़ हो गये थे। प्रजा जानेगी कि महाराज शत्रु के भय से भाग कर युद्ध से नहीं लौटे परन्तु देवी के प्रताप से देवी की गैया उन्हें अपने सींग पर उठा कर लाई और महाराज

गढ़वाली राजा का बहुत सा धन छीन कर देवी की आज्ञा से एक बड़ा यज्ञ करने के लिये लौटे हैं।

* * *

राजपण्डित जोशी और पांडे के परामर्श से महाराज ने न्याय किया। राजा की कंडी उठाकर अलमोड़ा पहुँचाने वाले किसानों को गुप्त रूप से बुलाकर सौ-सौ अशर्फी दान देकर उन्हें देवी के प्रतिनिधि महाराज का अपमान करने के अपराध में प्राण दण्ड दे दिया गया। और देवी के भक्त महाराज ने किसानों को दान दी गई अशर्फियों का भोग देवी के मन्दिर में लगा दिया गया।

राजपण्डित के परामर्श से महाराज ने देवी के वरदान के लिये दो वर्ष के समय के एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। अपने अनेक सरदारों को उन्होंने गढ़वाल के अनेक प्रदेश उस देश की विजय से पूर्व ही बांट दिये। राजा लक्ष्मीचन्द ने गढ़वाल पर आठवीं बार सेना ले आक्रमण किया। इस बार अलमोड़ा की सेना देवी की गाय के चिन्ह की विजय ध्वजा लेकर गढ़वाल जीतने के लिये चली।

राजपण्डित ने कहा—"महाराज के यज्ञ से संतुष्ट होकर देवी ने आज्ञा दी है कि वह गढ़वालियों की बनाई अपनी स्वर्ण मूर्ति की प्रतिष्ठा अलमोड़ा के मन्दिर में चाहती है। इसके लिये उनकी स्वर्ण की मूर्त्ति गढ़वाल से अलमोड़ा आनी चाहिये। जो लोग देवी की गाय की ध्वजा को छोड़ कर युद्ध के मैदान से भाग आयेगें, उन्हें गोहत्या का पाप लगेगा।" राज पण्डित ने महाराज को देवी के आशीर्वाद से सशक्त एक रक्षा कवच दिया जिसके प्रताप से शत्रु का कोई शस्त्र महाराज को छू नहीं सकता था। राजा लक्ष्मी चन्द इस बार देवी की आज्ञा से अपनी सेना ले स्वयं गोमती नदी पार युद्ध में गये।

गढ़वाल के सेनापति खतड़सिंह ने फिर राजा लक्ष्मी चंद की सेना का सामना किया। इस बार खतड़सिंह सिपाहियों और युद्ध के सामान की कमी के कारण हार कर युद्ध में खेत रहा।

राजा ने अपनी इस विजय के उत्सव की तैयारी पहले ही कर ली थी। गढवाल से अलमोड़ा तक छोटी बड़ी सब पहाड़ियों की चोटियाँ पर

ईंधन और फूस के ढेर लगा दिये गये थे। खतड़सिंह के युद्ध में गिरते ही जब अलमोड़ा के सैनिक गढ़वाल के गांवों में आग लगाने लगे तो इन जलते गांवों की ज्वाला को देख कर, पहले से दिये गये निर्देश के अनुसार, अलमोड़ा की पहाड़ियों की चोटियों पर बने ईंधन के ढेरों में आग लगादी गई। अलमोड़ा का सम्पूर्ण विस्तृत पहाड़ी देश राजा लक्ष्मीचंद की विजय कीर्ति के प्रकाश से जगमगा उठा।

राजा लक्ष्मीचंद के सरदार लोग गढ़वाल की लूट का बहुत सा धन और राजा श्रीनगर के मंदिर से देवी की स्वर्ण प्रतिमा लेकर अलमोड़ा लौटे। अलमोड़ा की प्रजा को विश्वास हो गया कि देवी की कृपा से अल-मोड़ा सदा के लिये विजयी और अजेय हो गया है।

परन्तु पचास वर्ष बीतने से पूर्व ही इस वंश के राजा बाजबहादुर मुग़लिया दरबार में सलामी देने के लिये दिल्ली पहुंचने लगे और सौ वर्ष समाप्त होते होते अलमोड़ा में गोरखों का राज कायम हो गया और बाद में अंग्रेजों का परन्तु गढ़वाल विजय का उत्सव खतड़वा अब भी आश्विन की संक्रान्ति की संध्या को मनाया ही जाता है।

मतिराम की बहादुरी

बात बात में क्रान्तिकारियों, भगतसिंह और चन्द्रशेखर आज़ाद का चर्चा चल पड़ा; क्योंकि हम लोग 'वीरता' और 'कायरता' के कारणों पर मनोवैज्ञानिक बहस कर रहे थे।

वकील साहब कह रहे थे कि जैसे व्यक्ति की ऊँचाई और शरीर का इकहरा-दोहरा पन शरीर की भौतिक रचना पर निर्भर करता है, उसके स्वभाव और इच्छा पर नहीं; वैसे ही व्यक्ति में अपराधी वृत्ति होना न होना, उसका वीर या कायर होना, उसके मस्तिष्क की भौतिक रचना पर निर्भर करता है।

देवदा अपने पाइप से एक लम्बा कश खींच कर बोले—"वाह, इसका मतलब तो यह हुआ कि मनुष्य का मस्तिष्क जड़ है, परिवर्तनशील और विकासशील नहीं।"—

धर्मदा ने अपना मत प्रकट किया—"प्राणों का मोह ही कायरता है।"

देवदा ने विरोध किया—"ऊंहू, प्राणों का मोह और जीवन रक्षा का प्रयत्न तो सब जीवों की प्रकृति का अंग है, जीवन का गुण और धर्म है। बाज़ वक्त मनुष्य भय को समझता नहीं, जैसे पतंगा दिये पर लपकने के परिणाम को नहीं जानता और उसका अज्ञान ही वीरता जान पड़ती है।··· आदमी जानता नहीं वह किस बात का क्या मूल्य दे रहा है!"

अपनी बात कह कर देवदा ने गर्दन कुर्सी की पीठ पर टिका इस मुद्रा में पाइप से कश खींचा कि उन्होंने बहस समाप्त कर दी हो।

उस शेखी का उत्तर दिये बिना न रह सका "क्यों;" मैंने पूछा—

"जब इलाहाबाद के एलफ्रेड पार्क में चन्द्रशेखर आज़ाद का पुलिस से सामना हुआ तो उसने भाग निकलने की बात सोची ही नहीं। आपने एलफ्रेड पार्क देखा है ? भाग निकलने का यत्न करने के लिये उसमें बीसों राहें हैं। परन्तु आज़ाद राइफल लिये पचास आदमियों का सामना करने के लिये एक पिस्तौल लेकर मोर्चे पर डट गया। और जब अपने कारतूस खत्म होते देखे तो आखिरी गोली आज़ाद ने अपनी कनपटी पर स्वयं अपने हाथ से मारली। क्या आज़ाद अपनी कनपटी पर गोली मार लेने का परिणाम नहीं जानते थे ? या नहीं जानते थे कि अंग्रेज साम्राज्यशाही की सरकार से लड़कर वे किस बात का क्या मूल्य दे रहे हैं ? आज़ाद का कहना था, हमारी और अंग्रेज़ साम्राज्यशाही की लड़ाई जीवन के अधिकार की लड़ाई है, जैसे शिकारी पशु को अपने पेट के लिये मार डालना चाहता है और पशु अपने प्राणों के लिये भागता है या लड़ता है। वे कहते थे—"हम इनकी अदालत में खड़े होकर बन्दरिया का नाच क्यों नाचें ?"

और मैं कहता गया—"जब भगतसिंह और दत्त ने असेम्बली में बम फेंका, तब प्रायः सभी लोग आतंक से हाल छोड़ कर बाहर भाग आये थे। भगतसिंह और दत्त चाहते तो भीड़ के साथ बाहर निकल आते और गिरफ्तारी से बच जाते। परन्तु वे अपनी बात कहना चाहते थे और अपनी बात कहने के अवसर का मूल्य अपने प्राणों के रूप में देना चाहते थे। और यह भी याद है आपको कि बम फेंका किस अवसर पर गया था ? अंग्रेज़ सरकार भारतीय मज़दूरों के अधिकारों पर कुठाराघात कर रही थी···!

"जब भगतसिंह, राज गुरु और सुखदेव को सांडर्स की हत्या के अपराध में लाहौर जेल में फांसी दी गई, उस समय हमारे 'लाहौर-षड़यंत्र' मामले के बहुत से साथी जेल में थे। उन लोगों को फांसी देने के समय पूरी जेल के कैदियों को बारकों और कोठरियों में बन्द कर दिया गया था। इसलिये हमारे केस के साथियों ने भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी के तख्ते की ओर ले जाये जाते अपनी आंखों से तो नहीं देखा परन्तु फांसी के तख्ते पर जाकर इन लोगों ने जो नारे लगाये—"इन्कलाब ज़िन्दाबाद ! दुनिया के मज़दूरो एक हो ! आजाद हिन्दुस्तान ज़िन्दाबाद !" उन नारों को उन्होंने अवश्य अपने कानों से सुना था। उन लोग

की वह ललकार जेल के कोने कोने तक गूंज गई। वे जानते थे कि देश की गुलाम और शोषित जनता को यह संदेश देने के अधिकार के मूल्य में वे अपने प्राण दे रहे हैं। जेल के जो सिपाही इन लोगों को हथकड़ियां लगाकर फांसी के तख्ते की ओर ले गये, उन सिपाहियों ने भी हमारे साथियों को बताया कि भगतसिंह, राजगुरू और सुखदेव सीना निकाले फांसी के तख्ते की ओर बढ़ते गये। उनकी मुद्रा में किसी प्रकार की कातरता नहीं थी।"

मैं कह रहा था— "अपने कर्त्तव्य और लक्ष्य की 'पहचान' और उसमें विश्वास मनुष्य को निर्भय और बहादुर बना देता है..........।"

देवदा मुझे टोक, उतेजना में अपने बुझे हुये पाइप को चूसते हुये बोले—"निर्भयता और बहादुरी की बात कहते हो?......यहां अलमोड़ा में मतिराम को फांसी हुई थी। अब तो अलमोड़ा में फांसी लगती नहीं। और जिलों की जेलों में भी 'बन्द' फांसी लगती है। फांसी के समय आम लोग देख नहीं पाते। शायद इसलिये कि सरकार अनुभव करती है वह बुरा काम कर रही है। वह अपनी यह करतूत किसी को दिखाने का साहस नहीं करती। जब खुली फांसी लगने का कायदा था, यहां अलमोड़े में, 'सिटोली' में एक पुराना 'तुन' का पेड़ है, उसी पर फांसी लटकाई जाती थी और सब लोग देखते थे। यह बात हम लोगों की पीढ़ी से पहले की है। हम लोगों के बचपन तक भी अलमोड़ा में फांसी लगती थी परन्तु उसमें कुछ बंधन हो गये थे। अर्थात फांसी 'हीरा-डुगंरी' में, जेल की चार दिवारी के भीतर लगती थी परन्तु जनता चार दिवारी के बाहर से, सड़क पर से तमाशा देख कर सरकार, न्याय और क़ानून के आतंक का लोहा मानना सीखती था।

"तब हम लोग मिशन स्कूल में पढ़ते थे। अभी तक लोगों को याद है कि मतिराम को फांसी लगी थी। उसकी बात शहर में फैल चुकी थी इसलिये बहुत से लोग देखने के लिये चार दिवारी के नीचे सड़क पर इकट्ठे हुये थे। जब मतिराम को हाथ पीठ पीछे बांध कर फांसी की चौखट की ओर ला रहे थे वह गद-गद स्वर में गा रहा था :—

"म्यसिले मामिला हूंछ,
मौसरले भेंट..."

"इससे पहले मुझे मतिराम से बातचीत करने का अवसर मिला था। जब मतिराम को 'कौसानी' से गिरफ्तार कर अलमोड़ा ला रहे थे, तभी उसे मैंने सड़क पर देखा था।.

"मिशन स्कूल में पढ़ते समय कोई छुट्टी होने पर या रविवार के लिये ही मैं कौसान चला जाता था। हमारे पिताजी 'कौसनी' में ही रहते थे। वहां उनकी खास स्थिति और प्रभाव था। दूर दूर तक के सरकारी जंगलों का ठेका उनके पास था। दौरे पर आने वाले या दूसरे सरकारी अफसरों को उनसे बहुत सहूलियत और सहायता मिलती थी। इस लिये सब लोग उन्हें बहुत मानते थे पिता जी को मानते थे, इसलिये मुझे भी मानते थे। तब कौसानी मोटर नहीं जाती थी। सड़क भी दूसरी थी। मैं घोड़ासड़क से कौसानी चला जाता था।

"मैं कौसानी से घोड़े पर अलमोड़ा लौट रहा था। घोड़ा अच्छा था इसलिये तेज़ चल रहा था। नीचे 'कोसी' पर आकर एक नयी बात देखी। दो पधान घोड़ों पर सवार चल रहे थे और उनके बीच एक आदमी हाथों में हथकड़ियां लगे और कमर में रस्सियों से बंधा चल रहा था। उसकी कमर में एक ओर बंधी रस्सी दायें हाथ घोड़े पर सवार पधान के हाथ में थी और दूसरी ओर बंधी रस्सी बायें हाथ घोड़े पर सवार पधान के हाथ में।

"अलमोड़ा के पहाड़ी ज़िले में पुलिस का और सरकारी प्रबंध दूसरे जिलों से भिन्न है। साठ-साठ, अस्सी-अस्सी मील तक न कोई पुलिस चौकी है और न थाना। फौजदारी और दीवानी के बहुत से अधिकार पटवारियों के ही हाथ में हैं। गांव के पधानों (मुखियाओं) की सहायता से पटवारी ही शासन प्रबन्ध चलाता है। शासन सरकार की शस्त्रशक्ति के बल पर नहीं, साख पर या स्थानीय प्रजा की न्याय और कानून के प्रति भीरूता के बल पर ही चलता है। आवश्यकता पड़ने पर पटवारी गांव के पधान और चौकीदार की मारफत चाहे जितने आदमियों को शासन प्रबन्ध के लिये सरकारी सिपाही बना ले सकता है। जिसे चाहे गिरफ्तार कर सकता है। गिरफ्तारी का विरोध करते किसी को देखा या सुना नहीं गया। गिरफ्तार लोगों को पचास साठ मील दूर 'पिथौरागढ़' या 'अलमोड़ा' पहुंचाने का काम भी पटवारी की आज्ञा से पधान लोग ही करते हैं। पटवारी गिरफ्तार व्यक्ति को

पधानों को सौंपकर रसीद ले लेता है। पधान मुजरिमों को अलमोड़ा के थाने में पहुंचा कर रसीद लेकर पटवारी के सामने अपना उत्तरदायित्व पूरा कर देते हैं।

पधान परिचित थे। यह विचित्र दृश्य देख पधान से प्रश्न किया—"पधान जू, क्या मामला है; किसे पकड़े लिये जा रहे हैं; बड़ा खतरनाक आदमी है ?

"खतरनाक तो है ही।"—पधान बोले—"दो कत्ल किये हैं। कत्ल करके खुद पटवारी जी के यहां खबर देने पहुंचा। जाकर खून भरा "दातुल" सामने रख दिया। ये है तो, देखो !"—पधान ने अपने घोड़े की जीन से बंधे, कपड़े में लिपटे हंसिये की ओर संकेत किया। कपड़े में सिले हँसिये पर डाक के पारसल की तरह जगह जगह लाख की मोहरें और ऊपर छन आया खून दिखाई दे रहा था। पधान कहते चले गये—"दो कत्ल किये हैं और जरा खौफ़ नहीं ! देखिये, कैसी दबंगी से चला जा रहा है ! जैसे सुसराल जा रहा हो।"

"वास्तव में ही घोड़ों के ही बीच रस्सियों से बँधा वह आदमी बड़ी बेफ़िक्री और दबंगी से सिर उठाये चला जा रहा था। अपना घोड़ा उसके समीप कर मैंने उसी से बात की—"क्यों भाई, क्या नाम है तेरा ?"

"मेरा नाम मतिराम है, महाराज !"—उसने चमकती हुई आँखें मेरी ओर उठा कर उत्तर दिया।

"कौन जात हो ?"

"हुड़किया हूँ, आपका।"

"ये क़त्ल कैसे कर डाला ?"

"कर ही तो डाला हुजूर।"—उसने उपेक्षा से उत्तर दिया।

उसकी उपेक्षा की ओर ध्यान न दे मैंने फिर प्रश्न किया—"किसका कत्ल कर डाला भाई !"

"चमेली का और किसनू लोहार का हुजूर !"

"क्यों कर डाला ? क्या नाराज़गी हो गई ?"

'नाराज़गी क्या हो गई हुजूर !...फिर हो ही गई ! सरकार पिछले साल असाढ़ में चमेली से बात हुई थी। वह कई जगह धान रोपने आई और मैं हुड़का बजा रहा था। उसकी मेरी बात पक्की हो गई। ब्याह ठहर गया। मिलना जुलना भी था। उसे कपड़े-लत्ते भी लाकर दिये। उसने रख लिये। तब पिछले चौमासे में चाकरी के लिये नीचे देश चला गया। अब लौटा तो देखा कि उसने किसनू लोहार से हेलमेल बना रखा है। हमने उसे समझाया कि यह ठीक नहीं, अपना कौल होता है ! तो बोली— "तुम्हें क्या ?"

हमने कहा—"तुझे क्या चाहिये, बोला ? हमने तेरे लिये कितना किया है ? अब लोग हम लोगों पर हँसेंगे ?" —तो गले में पहनी, किसनू शिल्पकार की दी भारी हंसली दिखा कर बोली—"मेरा, तू क्या देगा ?... तुझे क्या ?...हम नहीं जानते !...बस, हमारा दिल है।"

"हमने किसनू लोहार को भी समझाया—"मालिक, यह ठीक नहीं ! हमारा और चमेली का ब्याह पिछले असाढ़ में ठहर गया है। तुम बीच में मत पड़ो ! मालिक, अपनी-अपनी जात में रहना ठीक है ? सबकी इज़्ज़त होती है।"

किसनू हमारी जात को गाली देकर बोला—"अबे हुड़किनों की भी इज्ज़त होने लगी ?" बोला......"तुझे जो करना है कर ले !"

शाम को फिर चमेली के यहाँ गया कि एक बार और समझा देखूं। वह आँखें दिखा कर बोली—"तू मेरे यहाँ क्यों आया।" उसकी डोकरी माँ गाली बकने लगी।

"मैं लौटा तो सोचने लगा—ज़िन्दगी में ऐसा धोका हुआ ! सब लोग हंसेंगे। अभी तो लोग कहते थे, मतिया हुड़का बजाता है तो धान रोपने वाली के हाथ थकते नहीं। लोग कहते थे कि मतिया हुड़का बजाता है तो धान की पौद के ढेर उठ खड़े होते हैं और धरती में आप से आप जमते चले जाते हैं। अब सब लोग हंसेंगे कि छोकरी ने मतिया को लात मार दी।"

"मालिक ऐसा ही लगा कि अब क्या है ? घर आ दांतुल उठा चमेली के यहाँ लौटा और उसे काट दिया। फिर सोचा कि जिसने सब बात बिगाड़ी है, जो मेरी जात को गाली देकर हंसता है, उसी को क्यों छोड़ूं ?

तोकिसनू शिल्पकार के घर पहुँचा और उसे भी काट दिया। फिर जब किया ही था तो छिपाना क्या ? खून लगा दातुल ले पटवारी साहब के यहाँ गया। और क्या कहना था ? लोग देखते कि हमारी इज्जत क्या है ? दातुल उनके आगे रख दिया और बात कह दी कि मालिक, सरकार जो समझे !"

प्राणों के संकट के सम्मुख उसकी ऐसी निश्चिन्ता और गम्भीरता से एक चोट सी लगी। उसकी मूढ़ता तोड़ने के लिये उसे चोट पहुंचाने की इच्छा हुई; पूछा—"जानते हो, क्या होगा ?... फाँसी होगी !"

"हाँ मालिक"—बेफिक्री से मुस्कराती आँखें उठा कर मतिराम ने उत्तर या—"फाँसी तो लगेगी ही मालिक। उसने ऐसा किया तो वह मरी। हमने उसे काट डाला तो हमें फाँसी लग जाय !"

अलमोड़ा की अदालत में मतिराम का मामला पेश हुआ। यहाँ भ उसने अपना कत्ल कबूल कर लिया। अनजाने में या भोलेपन से नहीं; खूब जान बूझ कर सन्तोष के साथ।

यहाँ प्रायः ऐसा होता है कि गहरे पहाड़ी देहात के प्रदेशों, "चम्पावत", "पिथौरा गढ़", बागेश्वर वगैरा के इलाकों में कत्ल होते हैं तो गिरफ्तारी के समय पटवारी या पधान के सामने मुजरिम अपना अपराध कबूल लेते हैं। चश्मी गवाहों के सामने, अपने नित्य के परिचित और अपराध की परिस्थितियों और घटना को जानने वाले लोगों के सामने मुजरिम आँखें ऊंची नहीं कर सकता और अपना अपराध स्वीकार करने के लिये बाध्य हो जाता है। वहाँ घटना प्रत्यक्ष और स्वयं सिद्ध होती है, सुबूत और दलील का सवाल वहाँ नहीं होता। लेकिन घटनास्थल से पचास या सौ मील दूर, अदालत में महत्व घटना का नहीं, सुबूत और दलील का हो जाता है। यहाँ अदालत में पहुंच कर मुजरिम प्रायः अपने पहले बयान बदल देते हैं। चतुर वकील परोक्ष परिस्थिति में घटी घटना की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सैकड़ों सम्भावनायें और सन्देह अपने तर्क से उत्पन्न कर देते हैं। कानूनन सम्भावना और सन्देह का लाभ मुजरिम को मिलता है और मुज-रम छूट जाता है।

"मतिराम के मामले में कत्ल का चश्मदीद गवाह कोई न था। वह

चाहता तो पटवारी के यहाँ ही न जाता या अदालत में वकीलों की सहायता से कोई काल्पनिक घटना गढ़ कर सुना देता। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। वकीलों के समझाने पर भी ऐसा नहीं किया, अपना अपराध स्वीकार कर लिया।

"मतिराम की बात अलमोड़े में फैल गई थी। इसलिये जब उसे फाँसी के चौखटे पर ला रहे थे तब जेल की दीवार के नीचे कुछ लोग जमा हो गये थे। ज़िन्दा आदमी के गले में फन्दा लगा कर, गला घोंट कर मुर्दा बना दिया जाने वाला था। मौत की कल्पना से भी भय लगता है, वही मौत साज-सामान से, व्यवस्था से, एक आदमी को बांध कर दी जा रही थी। लोग देखने के लिये खड़े ज़रूर थे परन्तु स्वयं डरे हुये, ठिठके हुये ,यह देखने के लिये कि मौत कितनी भयंकर है ? दूसरे की मौत से अपनी मौत के भय का अनुमान करने के साहस से! फिर भी सिर में चक्कर सा और मनमें डुबकी सी अनुभव हो रही थी।

"और मतिराम हाथ पीठ पीछे बंधे, बन्दूकें लिये सिपाहियों के बीच निधड़क और आत्मतुष्ट चला आ रहा था। जैसे हाथ पीछे बांध दिया जाना और बन्दूकों से घिर कर चलना उसे अच्छा लग रहा हो! और वह स्वच्छन्द, गदगद, उन्मुक्त स्वर में गा रहा था:—

"म्यसिले मामिला हूंछ।
मौसर ले भेंट!"

(आपस की इच्छा से बात गठती हैं और अवसर से भेंट हो सकती है।)"

"यह मतिराम की बहादुरी नहीं है तो और क्या है ?"—उत्तेजित स्वर में देवदा ने पूछा—"उसके लिये यही बहादुरी थी कि अपनी प्रेमिका को छीनने वाले का और धोखा देने वाली प्रेमिका का सिर काट कर, अपनी आन और प्रेम करने के अपने अधिकार की रक्षा का मोल अपने प्राण देकर दे दे!...यह लोग क्या जानते हैं, देश क्या है ? न्याय क्या है ? श्रेणी क्या हैं ? स्वतंत्रता क्या है ? वे जिस बात को अपना अधिकार समझ पाते हैं, सब मान-सम्मान खोकर भी जिस बात में अपनी आन समझते हैं, उसके लिये प्राणों की बाजी लगाकर बहादुर बन सकते हैं। मतिराम अपनी प्यारी पर अपना अधिकार समझता था। उस अधिकार

की रक्षा के लिए वह जान पर खेल गया। मतिराम जात का हुड़किया ठहरा; नीचों में नीच कहा जानेवाला। दूसरे मनुष्यों के समान व्यवहार पाना उसने कभी अपना अधिकार नहीं समझा। इसलिए उस बात के लिए वह कभी नहीं लड़ा। उसकी समझ में जब उसके आत्मसन्मान और अधिकार का प्रश्न उठा, वह लड़ मरा और उतनी ही बहादुरी से लड़ा जितनी बहादुरी से भीम, अर्जुन, सिकन्दर, बाबर और राणा प्रताप, महात्मा गांधी—भगतसिंह और आजाद अपने आदर्शों और अधिकारों के लिए प्राण दे गये......!

प्रश्न तो है कि आदमी बहादुर बनने की आवश्यकता कब अनुभव करता है?......वह अपना आदर्श और अधिकार कब पहचानता है? ......मूक जनता का यह विराट समूह कितनी अथाह और अपरिमेय, परन्तु सोई हुई बहादुरी और वीरता का पारावार है, यह जागे तो......!"

राजनीति से गोपालदास को वैसा ही भय है जैसे आपको—मुझे छूत की बीमारियों से आशंका होती है। नेताओं की बात दूसरी है। उन्हें राजनीति मे फायदा होता है। जैसे बामारी फैलने पर जनता मरती है परन्तु डाक्टरों का फायदा होता है। या सपेरों को ही देख लीजिए। सपेरे सांप को खिलाते हैं, गले में लटका लेते हैं; इसका यह मतलब नहीं कि हम—तुम भी सांपों को छेड़ने लग जाएँ।

लड़कपन से ही, जब गोपालदास स्कूल में पढ़ता था और १९१९-१९२१ की बड़ी जोरदार राजनीतिक आंधी चली—जिसमें अंग्रेज सरकार के पांव उखड़ते-उखड़ते बचे थे; स्कूलों में हड़तालें हो गई थीं, बाजार कई कई दिन तक बन्द रहे और उजड़े बाजारों में धूल और सूखे पत्ते ऐसे उड़ते नज़र आते थे जैसे फागन की बयार से गांव के सूने गलियारों में उड़ा करते हैं। लोग "बिना मुकद्दमा चलाए गिरफ्तारी करने वाले काले कानून" (रालेट बिल) के खिलाफ़ काले झण्डे लेकर प्रदर्शन करने के लिए सड़कों पर ऐसे उमड़ पड़े थे, जैसे नर मुण्डों की बढिया चली आ रही हो। शहरों में ईंट-ईंट पर लिख दिया गया था—"पुलिस और सरकार की नौकरी हराम है"। उस सार्वजनिक उत्साह के प्रलयंकारी प्रवाह में गोपालदास भी एक सांझ स्कूल के दूसरे लड़कों के साथ, काले झण्डे के नेतृत्व में छाती पीट-पीट कर अंग्रेज सरकार का मातम मनाता फिर रहा था—"हाय-हाय, हाय-हाय, अंग्रेजी सरकार हाय हाय! जार्ज पंचम हाय हाय!" और गाता फिरा था—"नहीं रखनी, नहीं रखनी, सरकार जालिम नहीं रखनी!"

अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध राजनैतिक

युद्ध की यह घोषणा कर, चेहरे और सिर पर गलियों की धूल जमाए और सीना फुलाए जब गोपालदास सन्ध्या समय घर पहुँचा तो उसके राजनैतिक युद्ध का सिपाही बन जाने की सूचना घर पर पहुंच पहले ही चुकी थी।

गोपालदास के पिता डाकखाने में बाबू थे। उनकी तनखाह चाहे जनता द्वारा डाकखाने से खरीदे टिकटों से ही मिलती थी, परन्तु वे अपने आपको जनता का शासक और अंग्रेज़ी सरकार का नौकर समझते थे। बाबू जमनादास ने गोपालदास के कान उमेठकर और दो चांटे लगाकर उसकी वीरता का सत्कार किया और अपनी सहधर्मिणी के सम्मान का ख्याल न कर लड़के की मां के साथ अनाचार का दोषारोपण करने वाली गालियाँ दीं; और धमकाया—"बाप करे नौकरी, और बेटा चले बगावत करने! शर्म नहीं आती! जिस पत्तल में खाना, उसी में छेद करना! कमबख्त, कहीं खुफिया पुलिस को पता चल गया तो हथकड़ियाँ पड़ जाएँगी, घर का मुँह काला होगा और घर भर भूखा मरेगा अलग से!"

जब पिता का क्रोध शान्त हुआ तो रात में उन्होंने बेटे को सुमति दी—"अपनी औकात और बिसात से चलना अच्छा होता है। बादशाहों से लड़ना बादशाहों का काम है।...उजड़े आवारा लोग जो चाहें करें। यह शरीफ आदमियों के काम नहीं। भला आदमी अपना घर देखता है। घर-बार से बाहर की बात करनी है तो आदमी धर्म कमाए! हम लोगों का धर्म है स्वामिभक्ति और राजभक्ति। धर्म कमाओगे तो उस लोक तक साथ जाएगा। राजनीति करोगे तो उजड़ोगे, बरबाद होगे और जेल जाओगे।"

लड़कपन में पाई यह शिक्षा गोपालदास के मन में ऐसी बैठी कि फिर उसने राजनीति की ओर मुँह नहीं किया। देश में बड़े-बड़े परिवर्तन आए। गुलामी की जगह स्वराज्य हो गया। अँग्रेजी-झण्डे की जगह राष्ट्रीय-झण्डा फहराने लगा। और गोपालदास अंग्रेजी सरकार का भयभीत नौकर न रह कर अपनी स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार का सहायक और सेवक बन गया। राजनीति अब पहले से अधिक व्यापक और गहरी हो गई, परन्तु गोपालदास अपने सिद्धांत पर कायम था; अर्थात् शासन और सरकार की आलोचना से दूर रहा।

राष्ट्रीय सरकार का शासन कायम होने पर राजनीति भी बदल गई। पहले आन्दोलन स्वराज्य के लिए होता था, अब रोटी कपड़े के लिए होने

लगा। स्वराज्य की कमी गोपालदास को खटकती नहीं थी। स्वराज्य वह चाहता था क्योंकि स्वराज्य अच्छा समझा जाता था। जैसे मरने के बाद सब लोग स्वर्ग चाहते हैं परन्तु जिन्दगी में स्वर्ग की कमी से कोई परेशान नहीं होता। परन्तु तारीख से पहले गेहूँ खत्म हो जाना और खराब गेहूं मिलना, चीनी न मिलना, चीनी के लिए घण्टों 'क्यू' में खड़े रहने के बाद भी दुकान पर चीनी खत्म हो जाने के कारण चीनी न मिलना—ये सब बातें गोपालदास को बहुत खटकती थीं। परन्तु चुप था क्यों कि रोटी, कपड़े और राशन के सम्बन्ध में शिकायत करना सरकार की आलोचना यानि राजनीति थी और इस तरह के आन्दोलन का परिणाम भी राजनैतिक आन्दोलन भाग लेने जैसा ही था। जो लोग सड़कों पर जलूस निकाल कर नारे लगाते थे—

"देश कि जनता भूखी है,
कांग्रेस सरकार झूठी है।"

उन्हें वह जेल जाते देखता था। देश की जनता भूखी है यह तो वह स्वयं भी देखता था, परन्तु कांग्रेस सरकार झूठी है, यह बात वह कैसे मान लेता?

काँग्रेसवालों ने तो सदा सत्य और अहिंसा की दुहाई दी है। आजकल के राजनैतिक आन्दोलन करनेवाले कम्यूनिस्टों की तरह वह वारण्ट निकलने पर भागते नहीं थे—जैसे उसके मोहल्ले का 'अनन्त' और बहुत जोर से नारे लगाने वाले 'महताब' भाग गए। कांग्रेस वाले तो खुद बिस्तर ले, टांगे पर सवार हो कोतवाली चले जाते थे। जब वह अपनी सरकार को 'झूठी' कह कर गाली दी जाती सुनता तो उसे स्वयम् भी कम्यूनिस्टों पर क्रोध आता जो जनता की कठिनाई की आड़ लेकर सरकार के हर काम की निन्दा करने लगते हैं। रोटी कपड़े की कठिनाई को वह स्वराज्य के लिए बलिदान के रूप में सहे जा रहा था?

चीनी मिल रही थी परन्तु महंगी थी। अखबरों में सरकार का एलान निकला कि अब सरकार चीनी कन्ट्रोल से और खास दुकानों पर बिकवाएगी। किसी को भी चीनी का कष्ट न रहेगा। 'पायनियर' और 'नेशनल हैरल्ड' में सरकारी विज्ञापन भी देखे कि सबको चीनी मिलेगी और जिसे चीनी न

मिले, बेशक सरकार से शिकायत कर दे। गोपालदास ने मन ही मन चीनी-चोर बनियों को गाली दी और सोचा—कम सही, चीनी आराम से तो मिलेगी।

अक्तूबर के पहले पखवाड़े में तो नौकर को दो दिन 'क्यू' में खड़े कर अपने राशन कार्ड में दर्ज पांच यूनिट के लिये—आमदनी सौ रुपये से अधिक होने के कारण फी यूनिट छः छटांक के हिसाब से—गोपालदास एक सेर चौदह छटांक चीनी पा गये। वह चीनी समाप्त होते-होते अक्तूबर के दूसरे पखवाड़े में आ गई दिवाली। दिवाली का अर्थ हिन्दुओं में होता है:—मिठाई से भरे घर और मिठाई से भरे बाजार! राष्ट्रीय सरकार ने भी दिवाली के ख्याल से फ़ी आदमी दो छटांक अधिक चीनी देने का वायदा कर दिया। गोपालदास को भरोसा हो गया दिवाली निभ जाएगी। दिवाली क्या, दोनों बच्चों के दूध के लिए तो कुछ चीनी हो जाएगी।

१६ अक्तूबर से ही गोपालदास ने दफ्तर जाने के पहले चीनी के लिए राशन की दुकान के चक्कर लगाने शुरू किए। 'क्यू', हनुमान जी की लंका जलाते समय बढ़ी हुई पूंछ की तरह राशन की दुकान से आरम्भ होकर कुछ दूर बाजार में और फिर साथवाली सड़क पर भी फैलती चली गई थी। 'क्यू' के सिमटने की गति इतनी धीमी थी कि गोपालदास का सब्र सहन न कर सकता था। एक असलाया हुआ सिपाही सरकार की शक्ति के प्रतिनिधि के रूप में गड़बड़ी से सुरक्षा के लिए जमानत के रूप में खड़ा था। परन्तु उससे कुछ सहायता परिस्थिति सुधरने में मिल न रही थी।

गोपालदास ने कुछ देर नौकर को क्यू में खड़ा किया और बाबूपन का अहंकार छोड़ अपनी स्थिति के लिहाज की आशा में खुद ही क्यू में जा खड़ा हुआ। क्यू में खड़े-खड़े साढ़े नौ बज गये। प्रश्न था, चीनी के लिये क्यू में खड़ा रहे या दफ्तर जाये? दफ्तर न जाये तो गैर-हाजरी के कारण पाँच रुपये का, एक दिन की रोजी का, नुकसान! बाबू होने के अधिकार से दुकान की ओर बढ़ उसने बनिए से पूछा—"आखिर चीनी मिलेगी या नहीं? हम यहाँ खड़े रहें या दफ्तर जाएँ?"

बनिए ने उपेक्षा से उत्तर दिया—"इस समय स्टाक खत्म है, बाकी कार्डों को शाम को चीनी मिलेगी!".

गोपालदास सन्ध्या समय दफ्तर से लौटा तो राशन की दुकान पहले ही बन्द हो चुकी थी। आसपास पूछा तो मालूम हुआ कि चीनी खत्म है। अब कल सुबह मिलेगी। अगले दिन गोपालदास फिर अपने बड़े लड़के को साथ लेकर दुकान पर गया। लड़के को क्यू में खड़ा कर दिया कि चीनी के लिये एक दिन स्कूल न सही! दफ्तर से लौटने पर मालूम हुआ कि लड़का बारह बजे तक क्यू में खड़ा रहा और फिर दुकान पर चीनी का स्टाक खत्म हो जाने के कारण खाली थैला लेकर लौट आया।

हताश गोपालदास के मुँह से सरकार के नाम गाली निकल गई; फिर मन को समझाया—बनिया जरूर झूठ बोलता है। भला सरकार इसे चीनी नहीं देती होगी? अखबार में निकल चुका है कि यू. पी. में किसी को चीनी की दिक्कत न होगी।...जरूर चोरबाजार में बेचता है। इसकी रिपोर्ट करनी पड़ेगी.......लेकिन शिकायत करना ही राजनीति और राजनैतिक आन्दोलन हो जाता। यह सरकार को परेशान करना नहीं तो क्या है? फिर क्या करें?

मोहल्ले में चीनी के कारण दुःखी तो सभी थे, परन्तु करते क्या? भले आदमियों के नौकर क्यू में खड़े होकर चले आते। पोज़ीशन के आदमी के लिए क्यू में खड़ा होना भी क्या भला मालूम देता? परन्तु एक बार अखबार में निकला था कि दिल्ली में पंडित नेहरू खुद क्यू में खड़े होकर अपना राशन लाए थे। यह भी निकला था कि पण्डित नेहरू गेहूँ के आटे में शकरकन्दी का आटा मिला कर देश में गल्ले की कमी को पूरा करने की बात बताते हैं। खुद भी जरूर ऐसा करते ही होंगे........तब फिर शिकायत करके इन लोगों को क्या परेशान किया जाए?

मोहल्ले के लोगों ने समझाया—क्यू में घण्टों खड़े होने से, नौकर को दिन भर क्यू में खड़ा रखने से और लड़के को क्यू में खड़ा रख उसकी पढ़ाई बरबाद करने से भला यह है कि डेढ़ रुपया सेर चीनी चुपचाप खरीद लो! बहुत से लोग ऐसा ही कर रहे हैं! कुछ लोगों ने राय दी, 'क्यूब' खरीद लो। गोपालदास क्यूब खरीदने गया तो मालूम हुआ कि चीनी की परेशानी से लोगों ने सड़े, पुराने, दीमक के चाटे क्यूब भी बाजार से समेट लिए हैं। क्यूब भी न मिले।

अपने आराम के लिए डेढ़ रुपए सेर चीनी खरीद लेना गोपालदास को

राष्ट्रीय सरकार के साथ विश्वासघात और असहयोग जान पड़ रहा था। उसने चोर बाजार से डेढ़ रुपए सेर चीनी नहीं खरीदी। हां, कानून से बिकने वाले बताशे अढाई रुपए सेर खरीद कर काम चलाया। परन्तु १५०) माहवार में पांच आदमियों का खर्चा चलाने वाले परिवार में ।||-) सेर चीनी की जगह २।।) सेर की चीनी खर्ची जाने का रियासत कितने दिन तक निभ सकती थी ?

गोपालदास को यह भी खयाल आया कि जब आम लोगों को बच्चों के दूध के लिए चीनी नहीं मिल रही तो दूसरे लोगों को बोरियों चीनी बताशे बनाकर, २।।) सेर बताशे बेच कर मुनाफा कमाने के लिए क्या दी जा रही है ? दिवाली के दिन बाजार मिठाई से भर गए। मिठाई मिल सकती थी, चीनी नहीं। पर चीनी के बिना मिठाई कैसे बनी होगी ?...... बनिए का मुनाफा कायम रहना सबसे जरूरी बात है।

डरते-डरते उसने मोहल्ले के लोगों में चीनी न मिलने की शिकायत सरकार तक पहुंचाने की बात छेड़ी। लोग डेढ़ रुपए सेर चीनी और अढ़ाई रुपए सेर बताशे खरीदने के तैयार थे, परन्तु सरकार से शिकायतें कर बागी समझे जाने के लिए नहीं—"कौन शिकायत करे और कम्यूनिस्ट कहलाए ?"

गोपालदास अब दूसरे ही दृष्टिकोण से सोच रहा था:—चोर बाजारी और धांदली की ओर सरकार का ध्यान न दिलाना सरकार के प्रति होती दगाबाजी और गद्दारी की मदद देना है। सरकारके साथ विश्वास-घात है।

जब ३१ अक्तूबर की सुबह भी नौकर को भेजने पर भी चीनी नहीं मिली तो गोपालदास ने फिर अपने लड़के नरेन्द्र को स्कूल का नागा करा कर क्यू में खड़ा कर दिया और स्वयं दफ्तर चला गया। दफ्तर में बारह बजे मन में आशंका होने लगी—मालूम नहीं, चीनी लड़के को मिली या नहीं ? क्यू में मारपीट ही हो गई हो तो........?

अपने साथी की साइकल मांग कर वह घर पता लेने आया। मालूम हुआ कि लड़का क्यू से सही सलामत लौट आया है परन्तु चीनी दुकान पर खत्म हो गई थी, मिली नहीं।

"हां हां—ठीक फर्माते हैं आप !"—डाक्टर ने फोन का चोंगा उठाकर गोपालदास की ओर बढ़ाया—"आप कीजिए न फोन !"

अब गोपालदास पीछे हटकर कायरता कैसे दिखाता ? उसने कहा—"नम्बर नहीं मालूम।" डाक्टर ने दूसरे हाथ से टेलीफोन के नम्बरों की किताब भी सामने बढ़ा दी।

प्रश्न हुआ—"फोन किसे किया जाए ?···खाद्य विभाग के मन्त्री को ?"

"इतनी सी बात के लिए मन्त्री महोदय को परेशान करना उचित नहीं।" डाक्टर ने राय दी—"टी. आर. ओ. (नगर के राशन अफ़सर) को ही फोन कीजिए।"

टी. आर. ओ. का नम्बर देखा जाने लगा। और लोग उत्साह और क्रोध में चीनी बाँटनेवाले बनियों और सरकार की आलोचना करते रहे।

नम्बर ढूँढ़नेवाले सज्जन बोले—"४२०"

समीप बैठे वकील गजेन्द्र मोहन चौंके—"४२० क्या ?" "कौन कर रहा है चार सौ बीस !"—दूसरे व्यक्ति ने पूछा। "४२० तो है ही"—जोर से हंसकर डाक्टर ने उत्तर दिया—"एलानिया चार सौ बीस।"

गोपालदास विस्मित सबकी ओर देख रहा था। उसके समीप बैठे एक पुराने कांग्रेसी कार्यकर्ता मुंह में भरे पान को सम्भालते हुए बोले—"अरे भाई, जेल में ४२० बहुत चलता था। कैसी तिकड़म कोई करे, कैदी ४२० ही कहते थे।...हमसे ४२० मत करो।"

"४२० तो ताजीरात-हिन्द की दफा है।"·············"धोखा देना ४२० दफा में आता है।"—वकील साहब ने कहकहा लगाया।

"जब है ही ४२०, तो शिकायत क्या करोगे ! वह खुद ही कह रहे हैं ४२० है, तो फिर क्या !···उन्होंने अपना नम्बर ही ४२० रख लिया है।" सभी कहकहा लगाने लगे। गोपालदास समझा तब तक सब लोग हँस रहे थे। सबकी हँसी में उसका उत्साह और क्रोध भी बह गया।

वह लौटने के लिये उठ खड़ा हुआ। टी. आर. ओ. को शिकायत का फोन नहीं हो सका और राजभक्त गोपालदास चीनी न मिलने के कारण राजनैतिक आन्दोलन के ४२० में फँसने से बच गया।

[लखनऊ में टाऊन राशनिंग आफिस का टेलीफोन नम्बर ४२० ही है।]

आत्मिक प्रेम

जैसे अतिपक्व कटहल, लीची या आम का रस ऊपर फूट आने से फल के रस पूर्ण होने के विषय में कुछ कहने-बताने की आवश्यकता नहीं रहती वैसे ही कुछ लोगों के स्वभाव की विशेषतायें उनके रूप और व्यवहार से ही झलकती रहती हैं। इसी कारण माता-पिता का दिया हुआ एक अच्छा खासा नाम 'उनका' रहने पर भी परिचित उन्हें 'कलाकार' कह कर ही उनका ज़िक्र करते हैं।

कला है क्या ?......इस विषय पर सहसा कुछ कह डालने का साहस उचित नहीं। क्योंकि इस विषय में कलाकारों और कला के पारखियों में इतनी बहस है कि कुछ भी कहने से विवाद हो जाने की सम्भावना है। कला को पहचानने में चाहे जितना झगड़ा हो, कलाकारों को पहचानने में विवाद प्रायः नहीं होता और 'कलाकार' के विषय में तो था ही नहीं। 'कलाकार' की बात कहने के लिये ही कला का इतना प्रसंग आ गया। अस्तु.........

कला कल्पना और अनुभूति की सूक्ष्म वस्तु होने के कारण पकड़ में नहीं आ पाती। परन्तु 'कलाकार' तो प्रत्यक्ष जगत की वस्तु हैं। मनुष्य के रूप और व्यवहार में कला प्रकट होने के जितने भी लक्षण हो सकते हैं 'कलाकार' उनका चलता-फिरता और बोलता-चालता समुच्चय है। उनके जीवन में कल्पना और भावना का स्थान पार्थिव वास्तविकता से सदा ऊंचा रहा है और उन्होंने सदा ही 'आवश्यकताओं' से अधिक महत्व 'आदर्शों' को दिया है।

'कलाकार' के घराने में कोई बड़ी सम्पत्ति नहीं और न कोई जमा

हुआ व्यवसाय ही चला आ रहा था जिसके सहारे वे अनायास संतुष्ट और आदर का जीवन निभा पाने की आशा कर सकते। उनके परिवार ने आर्थिक कठिनाई के बावजूद 'कलाकार' को जीवन में सफलता की ऊंची सीढ़ी पर पहुंच पाने का अवसर देने के लिये कॉलिज की ऊंची शिक्षा दिलाई परन्तु 'कलाकार' इम्तहानों में बहुत से नम्बर बटोर कर अपने आप को अच्छी नौकरी का अधिकारी प्रमाणित करने के बजाय कला के मर्म की ओर ही आकर्षित रहे। शिक्षा के साधन से जीविका की चिन्ता करने की अपेक्षा मानसिक और बौद्धिक उन्नति का ही आनन्द लेते रहने का परिणाम यह हुआ कि एम० ए० पास कर लेने के बाद भी 'कलाकार' के सामने जीविका का प्रश्न एक बड़े भारी प्रश्न चिन्ह के रूप में खड़ा रहा। परन्तु यह प्रश्न चिन्ह दिखाई दे रहा था केवल 'कलाकार' के हितचिन्तकों को ही स्वयम् 'कलाकार' को नहीं। उन्हें तो प्रकृति ने जन्मजात प्रतिभा का वरदान देकर उनका कार्य पहले ही निर्दिष्ट कर दिया था—साहित्य द्वारा कला की उपासना! यों ज़ीविका के लिये मामूली उपकरण जो भी मिल जाय?

बात ठीक ही थी:—जीवन निर्वाह के लिये तो धन की अनिवार्य आवश्यकता एक मात्रा तक ही होती है। धन की असीम भूख का प्रयोजन होता है, समाज में सम्मान की इच्छा। 'कलाकार' में इतना आत्म-विश्वास था कि उन्होंने सम्मान को धन की रस्सी से बाँध कर पाने के बजाय सीधे सींगों से ही थाम लिया।

'कलाकार' ने कालिज जीवन में १६३० के आन्दोलन के समय से ही कोट-पेंट के बजाय खद्दर के झक सफेद धोती, कुरता और चप्पल, देशभक्ति का सम्मानित वेश अपना लिया था। सम्मान की पगडण्डी पर रक्खा गया उनका यह कदम बढ़ता ही गया और वे देशभक्ति और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के राजमार्ग पर बढ़ते बढ़ते एम० ए० पास करने के बाद सत्याग्रह में जेल पहुंच गये। जनता की आँखों में अपने लिये श्रद्धा देख आई० सी० एस० न बन पाने या कालिज में प्रोफेसरी न पा सकने के असंतोष ने उन्हें कभी भी विकल न किया। वह सफलता साधारण वस्तु होती, यह प्राकृतिक प्रतिभा और त्याग का असाधारण मार्ग था।

जेल में भी 'कलाकार' का व्यवहार दूसरे साधारण सत्याग्रही साथियों जैसा न था। जेल में जब दूसरे कांग्रेसी साथी तेल से शरीर की मालिश करने, गीता पढ़ने या तकली से सूत कातने में समय बिता रहे थे. 'कलाकार' जेल की ऊंची दीवार की छाया में कम्बल पर बैठ, जेल की दीवार के ऊपर से झांकते मुक्त संसार के वृक्षों की ओर देखकर कविता लिखते:—

"कदम्ब किसलय की कोमल छाया में,
कुसुम चयन करती तू सुकुमारी,
क्या जाने बन्दी के अथाह हृदय की बात।"

. और जब 'कलाकर' कृष्णमन्दिर में चार मास 'कठोर कारागार' की तपस्या पूर्णकर मुक्त संसार में आये, उनके जीवन का पहले से निश्चित मार्ग सुनिश्चित हो गया—देश की स्वतन्त्रता के लिए आजीवन संग्राम और साहित्य कला की आराधना। इन दोनों लक्ष्यों को एक में गुंथ देने से एक मार्ग बन गया—देश की स्वतंत्रता के लिए उद्बोधन करने वाले किसी समाचार पत्र में नौकरी, जहाँ बैठ जीवन की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति से निश्चिन्त हो, देश की जनता को मार्ग दिखाने और साहित्य सेवा का काम कर सकें।

इसे जीवन का साधारण मार्ग नहीं कहा जा सकता। परन्तु कला साधारण वस्तु नहीं है और कलाकार भी चाहे जो कुछ हो, साधारण नहीं हो सकता। इस लिए सर्व-साधारण के जीवन में जो कुछ होता है 'कला कार' के जीवन में नहीं हुआ।

विवाह की ही बात को ले लीजिए। यूरोप और पश्चिमी संस्कृति के उद्योग-परायण समाज में लोग आवश्यकता और समय अनुभव होने पर स्वयंम् ही विवाह कर लेते हैं। हमारा समाज अनासक्ति के आदर्श पर चलता है। यहाँ भरोसा नहीं किया जा सकता कि लोग आवश्यकता का समय आने पर विवाह कर ही लेंगे। अनासक्ति के पथ से कल्याण में विश्वास करनेवाले लोग जीवन की व्यर्थता देखकर जीवन से ही विरक्त हो जाँय और विवाह न भी करें परन्तु समाज और वंशक्रम को चलाना तो धर्म है। इसलिए हमारे समाज में विवाह को सामाजिक कार्य मानकर विवाह निश्कामभाव से कर दिया जाता है। विवाह के समय 'काम' का नहीं, कर्तव्य

का ही महत्व रहता है। परन्तु असाधारण होने और असाधारण मार्ग पर चलने के कारण 'कलाकार' का विवाह साधारण ढंग से, साधारण समय पर न हो पाया।

जैसे समय पर टल जाने वाली वस्तु का टलते जाना आसान हो जाता है वैसे ही 'कलाकार' का विवाह टलता ही गया। कलाकार को स्वयम् विवाह का आग्रह न था! विवाह के प्रति 'कलाकार' की विरक्ति का कारण भी असाधारण ही था। वे विवाह को जीवन का ढर्रा चलाने के साधन से बहुत ऊँची चीज विश्वास करते हैं। विवाह उनकी दृष्टि में अपार्थिव और अलौकिक प्रेम का भौतिक रूप में पुंजीभूत हो जाना है। ऐसा प्रेम क्या समाज में लड़की की उम्र और उसके माँ बाप की आर्थिक स्थिति की खोज खबर लगा लेने से मिल सकता है।

ऐसा प्रेम तो कविता की प्रेरणा की भाँति अज्ञात लोक से ही आने वाली चीज़ है। उसे खोजने या उसके पीछे भागने से क्या हो सकता था? वहाँ कला उपासक के गुरूत्व का अपमान ही होता। उस प्रेम के लिये केवल एक ही साधना उचित थी, प्रतीक्षा! 'कलाकार' धैर्य से प्रतीक्षा कर रहे थे। और जैसे सुगन्ध के अनुरूप फूल का रूप भी होना चाहिये, वैसे ही उस अलौकिक प्रेम की आधार प्रेयसी के काव्यमय लावण्य की भी कल्पना 'कलाकार' के मन में थी। आसाधारण रूप, प्रतिभा, संस्कृति और शिक्षा के प्रभाव से अति कोमल; जैसे ओस के बोझ से झुका हुआ कमल?

'कलाकार' का जीवन जीविका के लिए संघर्ष और पार्थिव-समृद्धि के लिए यत्न की कल्पना और आत्मा की संकीर्णता समझ, इन चीजों की उपेक्षा कर, कल्पना के व्यापक जगत में संतोष की आशा और प्रतीक्षा में चल रहा था! जीवन के साधनों की गणना से कुछ नीचे ही परन्तु कल्पना की उड़ान में बहुत ऊपर भौतिक पदार्थों के पीछे दौड़ने वाले साधारण व्यक्ति को जो संतोष एक बढ़िया मकान में रहने, अपनी गाड़ी पर सवारी करने और अपनी बैंक की किताब में छः अंक की रकम लिखी देखने से होता है, वह संतोष 'कलाकार' को बांस की ढीली पड़ गई कुर्सी पर बैठ, चार रसिकों के बीच अपनी 'चिर प्रतीक्षा' का राग कविता सुनाने से होता था।

कुछ लोगों को शंका हो सकती है कि साहित्य-कला जीवन भी अभि-व्यक्ति है तो जीवन की अपूर्णता में संतोष और संघर्ष की उपेक्षा से साहित्य-कला कैसे फ़र सकेगी ! ऐसी शंका जीवन को केवल पार्थिव पूर्णता के दृष्टिकोण से देखने से ही होती है। कल्पना के जगत में अभाव की अनुभूति का भी एक माधुर्य है। अभाव का यह माधुर्य तृप्ति की सीमाओं से भी मुक्त है। 'कलाकार' इसी अभाव के कवि रहे हैं।

आखिर 'कलाकार' का विवाह हो गया। हुआ भी असाधारण ढंग से ही। संसार के ढर्रे को चला सकने वाले दुनियावी ख्याल से नहीं बल्कि ऊंचे आदर्श की पुकार के प्रति अनुराग से ?

'कलाकार' अज्ञात लोक से अलौकिक प्रेम की पुकार आने की प्रतीक्षा में सैंतीसवें बरस में पाँव रख चुके थे। ओस से बोझल, शालीनता से नत-ग्रीव सुकुमार कमल उनके चरणों में आत्मसमर्पण के लिए न पहुंचा सका। 'कलाकार' कल्पना के बल पर पार्थिवता की सभी तरह उपेक्षा करते रहे थे परन्तु शरीर तो उनके भी है। उनकी इन्द्रियां अनुभूतियों की कल्पना करते करते क्षोभ की सीमा पर पहुँच गईं। काल्पनिक उत्तेजना का परिमाण और तीव्रता बढ़ते जाने से उसके उत्तेजना के परिणाम और प्रभाव में परिवर्तन आने लगा। एक समय के बाद काल्पनिक उत्तेजना उन्हें स्फूर्ति और संतोष नहीं अवसाद और शैथिल्य देने लगी और साहस की जगह निराशा।

'कलाकार' को उस आदमी जैसी अनुभूति होने लगी जो अपनी स्थिति और गम्भीरता के भरोसे राशन की दुकान पर लगी 'क्यू' में आगे जगह पाने के लिए जल्दी करना उचित नहीं समझता और फिर देखता है कि दुकान पर राशन समाप्त हो रहा है और वह क्यू में अभी बहुत पीछे है।

'कलाकार' की ऐसी मानसिक अवस्था में जात-बिरादरी के कुछ सम्मा-नित और जिम्मेदार व्यक्तियों ने विवाह के प्रति अनुचित उपेक्षा के लिए 'कलाकार' की भर्त्सना की और कठिन परिस्थिति में फँसे एक भद्र परिवार को आपद से रक्षा के लिए पुकारा।

'कलाकार की ही जाति में एक आर्थिक स्थिति से पीड़ित परन्तु भद्र परिवार है। परिवार की आर्थिक कठिनाई का कारण सम्भवतः परिवार का

देश के प्रति कर्तव्य में बलिदान होते रहना ही है। इस परिवार ने देश के लोगों की श्रद्धा और सहानुभूति से यथेष्ट पाई है परन्तु श्रद्धा और सहानुभूति से सभी समस्याओं का तो उपाय हो नहीं सकता।

परिवार के कर्ता को देश की स्वतंत्रता के आन्दोलन में भाग लेने के कारण बार बार जेल जाना पड़ा। घर में युवा हो गई कन्या का विवाह समय पर न हो सका। परिवार की आर्थिक कठिनाई के कारण युवा कन्या का विवाह और भी कठिन हो रहा था और फिर इस जमाने में जब कि अपने महत्व के ज्ञान से अभिमानी पढ़े लिखे और सम्पन्न युवक अपनी शिक्षा का खर्च उगाहने के साथ ही विवाह से पहले कन्या को देखकर पसन्द करने की भी शर्त लगा देते हैं।

यमुना के शरीर की कृषता और क्षीणता ने परिवार की चिन्ता को बहुत दिन तक टाले रखा। उसके शरीर में विशेष बढ़ती न देख कर परिवार ने उसकी आयु के वर्षों की गिनती में भी बढ़ती करना छोड़ दिया था। परन्तु सभी मामलों में सीमा से आगे बढ़ने की भी एक सीमा होती है यमुना के उन्नीस बरस पूरे कर लेने के बाद भी उससे चौदह ही बरस की बताते जाने में स्वयंम् परिवार को ही झेंप जान पड़ने लगी।

अपनी युवा कन्या का दान स्वीकार करने के लिए अनिच्छुक नवयुवकों से निराश हो कन्या का परिवार पक्की उम्र के दुहाजुओं तक की खोज कर रहा था। उस समय बिरादरी में एक कन्या के अविवाहित रह जाने से संत्रस्त बिरादरी के अभिभावकों ने इस भद्र परिवार को संकट से उबारने के लिए 'कलाकार' को पुकारा। 'कलाकार' ने प्रतिष्ठा का यह बोझ स्वीकार कर लिया!

यमुना की आयु और उसके शरीर की उठान में कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता था। उसके तेरह वर्ष की हो जाने के बाद जो वर्ष आये वे उसके शरीर को छुये बिना ही चले गए। उसका नामकरण भी सम्भवतः परिवार ने पूस-माघ की किसी घने मेघों से छायी, संध्या में नदी की सिमटी हुई काली धारा को देखकर ही कर दिया था।

परन्तु यमुना 'कलाकार' की कल्पना के ओस के बोझ से झुके हुए कमल के लिए सुरक्षित स्थान के लिए आई थी। 'कलाकार' ने उसी

भावना से उसका स्वागत किया। यमुना की त्वचा में उन्हें श्याम मेघों की स्निग्धता ही नही नील कमल की आशा दिखाई दी और कलाकार ने पहले ही दिन उसे मुग्ध, शिथिल स्वर में उत्पला सम्बोधन कर, उसके लावण्य से आत्म-विभोर हो तृप्ति में आँखें मूँद लीं। यमुना की रक्त की कमी से पीली आँखों में उन्हें वैशाख के चन्द्रमा की ज्योत्सना और कृष अंगों में लता की कोमलता दिखाई देती। शिक्षा के अभाव के कारण यमुना की मूढ़ता में एक विवश कर देने वाला भोलापन। 'कलाकार' की कलामय अभिव्यक्ति का अवलम्ब उत्पला बन गई।

विवाह के बाद 'कलाकार' कई दिन तक परिचितों को अकस्मात विवाह कर ही डालने का सन्देश आत्मविस्मृति की सी मुद्रा में सुनाते रहे। प्रायः ही वे किसी न किसी प्रसंग से मित्रों में उत्पला जी का चर्चा, कभी उनके स्वास्थ्य और अपने कर्तव्य के प्रसंग से और कभी उत्पला जी के भोलेपन और सादगी के कारण करते रहे। उत्पला कहते समय मानो उनका रोम रोम विवश हो जाता। होंठ कुछ ढलक से जाते और पलकें काँप जातीं। अनेक मित्रों और सुहृदों को मामूली चाय का प्याला पिलाने का निमंत्रण दे वे अपने घर ले गए कि उन्हें उत्पला के अभिनव लावण्य और सहज प्रतिभा का परिचय दे सकें। और मित्र लोग चाय के घूंट के साथ उस परिचय को किसी तरह निगल, लौट कर 'उत्पला की चर्चा करते समय आधे 'तृ' के उच्चारण की कठिनाई से बचने के लिये नाम को बिना 'तृ' के उच्चारण कर पेट दबाए हँसते रह जाते।

'कलाकार' के आत्मिक प्रेम की वास्तविक स्थिति का परिचय तो उस दिन मिला जब संध्या समय उन्हे अपनी गली से शनै-शनैः आत्मविस्मृति की अवस्था में, बायें हाथ से धोती का छोर थामे आते देखा। उनकी दाँयी बांह पट्टी में लिपटी गले से बंधी अलगन में धरी थी।

उन्हें सामने आते देख लोग पुकार उठे—"ओ भाई 'कलाकार' जी बाँह को क्या हुआ ?

उनके कुछ उत्तर दे पाने से पहले ही जग्गी पूछ बैठा—"उपला जी मज़े में हैं ?"

यह अनर्थ देख दूसरे लोगों ने जीभ दाँत तले दबा जग्गी की शरारत

रोकने के लिये उसकी कमर में चुटकी काटी। यही अच्छा हुआ कि कलाकार आत्म - विस्मृति की अवस्था में होने के कारण उच्चारण की छोटी मोटी भूल की ओर ध्यान दे सकने की अवस्था में नहीं थे सन्तोष का दीर्घ श्वास ले वे बोले—"यह उत्पला जी का ही हाल समझिये! उन्हीं की दवाई? और स्वयंभू ही जोर से हँस दिये।

बाँह काफ़ी सूजी हुई थी। उनके इस अत्यन्त रहस्यवादी उत्तर से मैंजर में यह सोच ही रहे थे कि क्या हो गया होगा;...कहीं चिड़चिड़ाकर काट ही तो नहीं बैठीं?...या उठाकर बेलन ही तो नहीं दे मारा?

कलाकार हम लोगों की मूढ़ता देख मुस्करा कर बोले—"दो तीन दिन से उत्पला जी की तबियत ठीक नही थी। शरीर में दरद रहता था। इसलिए हम आज दफ्तर न जाकर डाक्टर को बुलाकर लाये। डाक्टर का ख्याल था कि पेट खराब होगा! पेट खराब नहीं था। डाक्टर ने और पूछा तो शरमा गईं। जानते ही हो, कितनी भोली हैं! खैर, हमने एक ओर ले जाकर पूछा और तब डाक्टर को जवाब दे पाये।"

जग्गी को बोलने के लिये मुँह खोजते देख सिद्धे ने उसका हाथ दबा कर चुप करा देना चाहा, जाने क्या तूफ़ान कह डाले! परन्तु वह कह ही गया—"हाँ कलाकार जी नारी का भोलापन ही तो उसकी कोमलता है।"

'कलाकार' इस अनुमोदन से मुस्करा दिये। सिद्धे ने उतावली से फुफ-कार छोड़कर पूछा—"फिर, कलाकार जी फिर क्या हुआ।"

"डाक्टर एक इंजेक्शन बता गये थे कलाकार आगे बोले—"दोपहर में उनका कम्पाउण्डर आया। पिचकारी में दवाई भर लेने के बाद उसने उत्पला जी को बाँह आगे करने के लिये कहा। आप तो जानते ही हैं वे कितनी कोमल स्वाभाव हैं! पाँच इंच लम्बी सुई देखी तो चीख पड़ीं।

"हमें डर हुआ कि कहीं कलेजे को सदमा न लग जाय! बेहोश न हो जाय? उनका भय दूर करने के लिए हमने तुरन्त अपनी बाँह बढ़ायी। और समझाया डरने की कोई बात नहीं है। हम सुई लगवा कर दिखा दें? ......कुछ नही होता। चींटी काटने के बराबर भी दरद नहीं होता।"

"भोली हैं न? उन्हें क्या मालूम कि दरद नहीं होता! वे कम्पाउण्डर

की ओर देखती काँप रही थीं। हमने सोचा इनका भय मिटाना आवश्यक है। हमने कम्पाउण्डर से कहा—लाओ, लगा दो सुई हमारी बाँह में।

"कम्पाउण्डर झिझका। उसके झिझकने से वो और डर गईं। कम्पाउण्डर की हिमाकत पर हमें गुस्सा आ गया। उसे डांटा—क्या देखते हो उसे? लगाते क्यों नहीं सुई हमारी बाँह में! उन्हें व्यर्थ डरा रहे हो।"

"कम्पाउण्डर ने सुई लगादी। हमने उत्पला जी को पुकारा–देख लीजिए भय की तो कोई बात नहीं है न! वो बेचारी भय और विस्मय से देखती रह गई उन्हें उसी में भय मालूम हो रहा था—आप तो जानते ही हैं कितनी सीधी है।

मनोहर का मुँह विस्मय में खुला ही रह गया। लेकिन सिद्धे ने गले में आई हँसी का बड़ा सा घूँट निगल पूँछ ही लिया—तो जनाना बीमारी का इंजेक्शन आपकी बाँह में लग गया?"

"हाँ लग ही गया"—कलाकार हृदय की विशालता से मुस्करा दिये।

अब तक मनोहर संभल चुका था। बोल उठा—"तो उपला जी को कुछ फायदा...!" वह पूछना चाहता था परन्तु जग्गा ने उसे डाँट दिया—मूर्ख हो तुम! फायदा होगा कैसे नहीं......प्राण तो एक ही हैं, शरीर दो हुए भी हुए तो क्या।"

मनोहर इस पर भी नहीं माना—"प्राण एक होंगे भाई। इंजेक्शन तो प्राणों में नहीं शरीर में लगा है। शरीर तो जनाना मर्दाना अलग अलग ही है।"

कलाकार जी ने उदारता से हँसकर समझाया—"प्राणों से भिन्न तो शरीर कोई वस्तु है नहीं। जब प्राणों का ऐक्य है, आत्मा का ऐक्य है, अंग अंग का......भिन्न है ही क्या?"

जीवविद्या और चिकित्साशास्त्र की खोज करने के लिये कुछ जीवों के शरीर को काट-छांट कर जांच पड़ताल करनी पड़ती है। इस से जीवों के शरीरों में होने वाली व्याधियों के बारे में अनेक गुत्थियां और उलझनें सुलझ जाती हैं। चिकित्सा का काम भरोसे से किया जा सकता है। लाखों जीवों के प्राण बचाये जा सकते हैं। परन्तु जिस जीव का शरीर काट-छांट कर उलझन सुलझाई गई, उसे तो जीवविद्या या चिकित्साशास्त्र के प्राप्त हुये ज्ञान से कुछ लाभ पहुंचाया नहीं जा सकता। उसे दूसरों के लिये बलिदान हो गया समझ कर इसके प्रति केवल सहानुभूति और कृतज्ञता ही प्रकट की जा सकती है।

ऐसे ही हमारे समाज में पैदा हो गई अटसट और हमारे सामाजिक न्याय के तराजू में आ गये पासंग को प्रकट करने के लिये मंगला के जीवन की भी छीछालेदर हो गयी। मंगला के जीवन के उधड़े हुये बखियों की जांच-पड़ताल करके यदि सामाजिक रोग के कारणों की खोज से, सामाजिक न्याय के तराजू में आ गये पासंग को दूर किया जा सके तो अच्छा ही है परन्तु मंगला के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के अतिरिक्त कुछ और किया न जा सकेगा।

जैसे जीवविद्या और चिकित्साशास्त्र की खोज के प्रयोजन से शरीर छेदन के लिये स्वस्थ और सुडौल जीवों को ही चुना जाता है वैसे ही समाज ने भी अपनी अव्यवस्था को ठीक परिमाण और मात्रा में जाँचने के लिये मंगला को ही चुना।

अलमोड़ा जिले में, जहाँ हिन्दू सम्प्रदाय का प्राधान्य है और जहां हिन्दू

सामाजिक प्रणाली और वर्ण व्यवस्था पर विधर्मी और विदेशी संस्कृति का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। मंगला का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उसके मात-पिता बचपन में ही मर गये परन्तु वह तो जैसे जीवन का वेगवान उच्छ्वास लेकर ही पैदा हुयी थी; निराला ही स्वास्थ्य और निराला ही रूप उसके शरीर में फूटा। विपुल बनस्पति के रस की छलछलाहट, पहाड़ी चट्टान का ठोसपन, पहाड़ी नदी का वेग और चौखम्भा की बर्फीली चोटियों से आती वायु के झोंकों की निर्मलता उसके रक्त में था। यों तो सभी स्त्री-पुरुष एक समय किसी न किसी को आकर्षक जान पड़ते हैं और इससे सृष्टि का क्रम चलता रहता है परन्तु कभी-कभी कुछ लोग नमूने के तौर पर भी सुन्दर होते हैं, जिनके सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती और जिन्हें देख कर पलकें झपक जाना भूल जाती हैं। मंगला ऐसी ही थी। और शायद वह जीवन के लिये वैसी ही उत्सुक और समर्थ भी थी जैसे कि ऊंचे पहाड की गोद में फूटने वाला नाला ढलवान पर बह कर नदी में मिल जाने के लिये व्यग्र रहता है।

मसेड़ा गांव का बन्सीधर पांडे अच्छा खाता-पीता किसान था। उसका बड़ा लड़का लक्ष्मीदत्त बागेश्वर के स्कूल में पढ़-लिख कर नीचे देश में नौकरी करने लगा। पढ़-लिख कर भी अपने शरीर को किसानी की कार में तोड़ना लक्ष्मीदत्त को पसन्द नहीं आया। अपनी जमीन में 'हालियों' से हल जुतवा लेने के बाद भी खेती का बहुत सा कष्ट कर काम रह जाता है। खेत की निराई, फसल की कटाई—ढुलाई के अलावा नित्य घर के गोरुओं के लिये घास-पत्ता-लाना, घर के लिये बन से ईंधन और नीचे खण्ड में फूटने सोते से जल लाना उसके लिये रुचि कर न था। लक्ष्मीदत्त शरीर से भी विशेष पुष्ट न था। इसलिये पहाड़ी देहात में खेती-बाड़ी का काम बाप और सौतेले छोटे भाई केसवदत्त पर छोड़ वह बरेली में एक ठेकेदार के यहां मुन्शीगीरी करने लगा।

लक्ष्मीदत्त जीविका चाहे जहां जाकर कमाता, घर तो पहाड़ में ही था और वहाँ ही उसकी जात-बिरादरी थी। इसलिये ब्याह भी उसका वहां ही होना था। लक्ष्मीदत्त के पिता ने शहर में रहने वाले अपने बाबू लड़के के ब्याह के लिये 'मतूरी' गाव के रुद्रदत्त जोशी की भतीजी मंगला को

चुना । अनुभवी प्रौढ़ बन्सीधर का विचार था, कि पढ़ने-लिखने और शहर में रहने से लड़के का मिजाज़ शौकीन हो गया है उसके लिये सुन्दर लड़की ही चाहिये । बहू सुन्दर होने से लड़के को पहाड़ का देहाती जीवन इतना नीरस न जान पड़ेगा ।

बन्सीधर अपने शौकीन बाबू लड़के को चाहे जो कुछ समझता हो, दूसरे लोगों को ब्याह के समय ही वह जोड़ा कुछ जँची नहीं । बच्चाराम की आदत ही तीखी बातें कहने की है । बन्सीधर को आड़ में देख उसने कह ही दिया—"यह भी क्या जोड़ी ? जैसे हिसार की गैया के गले भेड़ा बांध दिया हो ?

मंगला सुसराल आई । सुसराल का घर मायके के घर से बड़ा था । यहां खाट की जगह पलंग था, बरतन भाँड़े अधिक और बड़े थे । दूध-दही था परन्तु उसका आदर नहीं था, उसके लिये दुर-दुर ही थी ।

उसके आदमी ने पहले तो बड़ा चाव और लाड दिखाया लेकिन तुरन्त ही जैसे फट गया, मुँहसा छिपाने लगा । सभी जवान बहुओं की तरह मंगला चाहती थी 'वो' आये, बात करे । परन्तु लक्ष्मीदत्त कतरा जाता, जैसे बात करने को उसका जी न चाहता हो या रूठ गया हो । लक्ष्मीदत्त जल्दी ही अपनी नौकरी पर लौट भी गया ।

सौतेली सास ने तो पहले ही दिन समझ लिया कि हिस्सा बँटाने वाली बैरन आयी है । मंगला अपने घर का सब काम और खेती-पाती का भी काम करती आई थी । यहाँ भी करने के लिये तैयार थी । बिना कहे भी वह काम में लग जाती । वह जिस काम को हाथ लगाती, सास टोककर बिगड़ उठती और मंगला कुछ न करती तो सास गाली देती कि हरामी हाड़ है ।

भाग्य की बात, लड़के का ब्याह करने के चार ही महीने बाद मंगला के ससुर को लकवा हो गया और वह मर गया । मंगला की सास ने सिर और छाती पीट-पीट कर मंगला को गालियां दीः—डाइन मां-बाप को खाकर मेरा घर खाने आई है । आते ही मेरा सुहाग निगल गई !

बाप के मरने पर लक्ष्मीदत्त पन्द्रह दिन के लिए घर आया । मंगला सोचती थी ।—'वो' आयेगा तो कहेगी कि सौतेली सास सुहाती नहीं ! मुझे भी देस ले चलो । वहां तुम्हारे साथ रहूंगी, खिदमत करूंगी ।

लक्ष्मीदत्त आया तो मंगला से ऐसे बचता रहता जैसे "सिसूंड़" (बिच्छू बूटी) से कतरा कर निकल जाते हैं। मंगला सोचती, सास ने जाने इसे क्या पढ़ा दिया है ? वह सौतेली होकर भी इतनी सगी होगई। मुझे ब्याह कर लाया है, सो मुझसे बात भी नहीं करता। मौका लगे तो पूछूं मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है ! और कभी माथे पर हाथ रख यह भी सोचती—हाय लोग तो मुझे कैसे-कैसे देखते थे ! यह जाने क्यों मुझे बिच्छू समझ रहा है। मंगला बात करने का मौका जोहती रहती, लक्ष्मीदत्त रात में जाकर गोशाला में सो जाता। वह इस यत्न में रहता कि में बहू से अकेले में सामना न हो। और कभी अकेले में मिलना हो ही जाने पर यदि बहू को अपनी ओर प्यासी आंखों से देखते पाता तो उसे पसीना सा आ जाता, आंखें झुक जातीं। मुंह फिरा कर चल देता, मानों कुछ जानता ही नहीं। बाप का पिण्ड कराकर वह जल्दी ही नौकरी पर देस लौट गया।

सास की आंखों पर क्या रूई के फाहे रखे थे। वह सब देखती समझती थी। उसने लक्ष्मीदत्त का मन बहू से फिरा देखा तो चैन की सांस ली। जितना लोभ कैकेयी को अपने पुत्र भरत के लिये दशरथ का राज पाने का था उससे कम लोभ मंगला की सास को घर की जमीन अपने पुत्र के लिये ही सुरक्षित रखने का न था। उसने सोचा यह कुलच्छनी बहू बांझ ही बनी रहे तो अच्छा। उसने यह भी सोचा मैं औरत जात जमीन जायदाद की बात क्या समझूं ? लड़का केसव अभी छोटा है। उसने अपने छोटे भाई और भौजाई को बुला कर घर रख लिया।

अपने आदमी के मर जाने के बाद से उसे ख्याल हो गया कि वह मांदी हो गई है। और यह सांडनी की सांडनी बहू क्या करेगी ? रूखड़ है तभी तो लड़का इसको चाहता नहीं। यह क्या करेगी !

मंगला का जीवन और कठिन हो गया। सास बर्तन भांडे, घर और गोरूओं के लिये पानी लाने, गोशाला समेट कर खाद खेत में डालने और खेती का भी काम उसी से लेने लगी। खाने के लिये मंगला को मडुंए की रोटी देती। सास घर की छाछ चाहे बैलों को पिला दे, चाहे 'हाली' को दे दे परन्तु बहू को न देती। क्यों दे उसे ? यों ही बदन से लहू फटा जा रहा

है। फनीयर नागन सी फुंकारती फिरती है। आकर ससुर को खागई खसम को सुहाती नहीं। कोई औरत है?.......जैसे धतूरे का फूल। दैव ने बस करने को रूप दिया है, बस दिखाने का।

साल भर बीत गया और लक्ष्मीदत्त घर नहीं आया। अपनी कमाई का रुपया घर जरूर भेज देता था परन्तु मनीआर्डर मंगला के नाम नहीं. अपने छोटे सौतेले भाई केसवदत्त के नाम भेजता। सास मंगला को गाली देकर कहती—यह मुंहजली रां है ही ऐसी कि इसके डर से मेरा लड़का घर नहीं आ पाता। दैव बिचारे को बनाये रखे, यहां आयगा तो यह नागन उसे भी डस लेगी।

मंगला ने आते-जाते आदमियों के हाथ तीन कोस दूर मतूरी पट्टी में अपने चाचा के यहां कई बार संदेश भेजा कि मेरी ज़िन्दगी जोखिम हो रही है आकर ले जा। कई बार संदेश भेजने पर एक दिन अपने लड़के के जनेऊ पर उसने मंगला को बुलवा भेजा।

मंगला को पीहर आये दस दिन भी नहीं बीते थे कि उसकी सुसराल से आदमी उसे लौट ले जाने के लिये आ गया। उसके देवर को लकवा हो गया था और सास ने उसे लौटा लाने के लिये अपने भाई को भेजा था।

मंगला लाचार लौट आई। सास ने गिड़-गिड़ाकर झोली पसार-पसार कर उससे अपने बेटे के प्राणों की भीख मांगी। सास को विश्वास था कि मंगला डाइन है और उसने उसके लड़के पर 'घात' मरण मंत्र डाल दिया है। सास मंगला का पांव छू-छू कर कहती तू सब खेत, जमीन, घर, गोरू सम्भाल ले, मेरे बेटे की जान छोड़दे? मंगला की खूब खुशामद हो रही थी। उसके लिये नया घाघरा, चादरा और अंगा भी बन गया।

मंगला लज्जा और दुख के मारे मरी जा रही थी। वह हर दम मनाती रहती—"राम जी मेरे देवर का दुख दूर करो? चाहे मेरी जान ले लो? उसे चंगा कर दो।' इससे पहले सास से दुख पाकर मन ही मन उसने उसे क्या-क्या अभिशाप नहीं दिये थे परन्तु अब वह सास के दुख से दुखी हो उसके लिये और उसकी सन्तान के लिये शुभ कामना करने लगी।

ओझाओं की मंत्र शक्ति के बल से या मंगला के दया कर अपना शाप हटा लेने से, जैसे भी हो, मंगला का देवर चंगा हो गया। मंगला

की दशा फिर वही पुरानी हो गई। सास, सास के पास के भाई और भौजाई तथा देवर का खाना बनाने, बर्तन भाँड़े का काम, घर और गोरूओं के लिए पानी की ढुलाई, गोशाला का खाद खेतों में डालना, अनाज कूटना और फिर खेती का भी काम ? खाने के लिये अनाज कम और गालियां अधिक। देवर की बीमारी के समय जो भले रंगीन कपड़े उसे सिलाकर दिये गये थे, वे बेरंग होकर फट भी गये परन्तु उन कपड़ों के लिये सास की गालियाँ और ताने बढ़ते ही जाते थे।

लक्ष्मीदत्त रूपया घर ज़रूर भेज देता परन्तु स्वयम् कभी न आता। मंगला दिन भर मेहनत करती, रात में कुछ देर रोती, कुछ देर सोती। रूखा अन्न खाती और दुर-दुर झेलती। उसके लत्ते फटकर गिर जाना चाहते थे परन्तु वह गाँठे बाँध-बांध कर उन्हें सहेजे थी। उसके अंगों का सुडौल पन, जो अच्छे मज़बूत कपड़ों में बस न आ सकता, इन चीथड़ों में क्या सम्भलता ? कुछ नहीं था तो भी उम्र तो थी ! और प्रकृति ने उसे जो रुप दिया था, उसका मूल्य अभी प्रकृति कहाँ लौटा पायी थी ?

घर से ठुकराई और दुत्कारी हुई चीज के लिए बीसियों आंखों में आदर और चाव था। पर इस आदर और चाव में एक चुभन और भय था। आतंकित करने वाले ऐसे आदर और चाव से गृहस्थिनों की रक्षा करने के लिए परिवार और पती की आड़ होती है परन्तु मंगला को ठेल कर रक्षा की इस आड़ के बाहर निकाल दिया गया था। वह आदर और चाव का झोंका अनुभव करती तो सिहर जाती। चाहती कि छिप जाये ! परन्तु छिपता कहां उससे तो आड़ छीन ली गयी थी। वह चाहती थी मायके ही चली जाय। जैसी मेहनत-मजूरी यहाँ करती है, वहाँ भी करेगी, दुत्कार फटकार से तो बची रहेगी ? उसने फिर कई संदेस चाचा के यहां भेजे। परन्तु किसी ने उसकी चिन्ता नही की। जिस औरत का आदमी उसकी चिन्ता नहीं करता उसका दरद कौन करेगा ? कभी वह सोचती, जोगन ही हो जाय ? उसने सुना था 'बागेश्वर' में जोगिनें रहती हैं पर बागेश्वर की राह उसे मालूम न थी।

कुमायूं अलमोड़ा में नीच समझी जाने वाली जातियों की आर्थिक अवस्था प्रायः खराब है। ऊंची जातियों के लिये कठिन परिश्रम के सब

काम इन्हें ही करने पड़ते हैं उन्हें 'शिल्पकार' नाम से ही पुकारा जाता है। हल की मूठ छूने से जिन ब्राह्मणों के जाति च्युत हो जाने की आशंका रहती है, उनकी जमीन पर हल जोतने का काम शिल्पकार ही करते हैं। कद-काठ और रूप-रंग भी इनका अपनी आर्थिक अवस्था के अनुसार ही होता है। देखने से ही लोग कह देते हैं कि ऊंची जातियां आर्य रक्त से हैं और शिल्पकार लोग भिन्न नस्ल के या आदिवासी हैं।

परन्तु इन शिल्पकारों में भी कभी कभी ऐसा रूप रंग देखने में आ जाता है जो ऊँची जाति के ब्राह्मण ठाकुरों को भी लजादे! जांच करने पर उत्तर यही मिलता है कि ऊंची जाति के द्विज लोग कामिनी और कञ्चन की कद्र कीच में पड़े रहने पर भी करने से नहीं चूकते! इसलिये कहीं कहीं शिल्पकारों में भी रक्त के समिश्रण से ऊंची जात की रूपरेखा दिखाई दे जाती है। बन्सीधर पांण्डे का 'हाली' (हल जोतने वाला शिल्पकार) शेरुआ ऐसा ही शिल्पकार था।

ससुराल के नित्य जीवन में मंगला को अगर किसी से दुत्कार फटकार नहीं थीं और यदि कोई कभी आदर और सहानुभूति का बोल बोल देता था तो हाली शेरूआ। शेरूआ मंगला की आँखों में आंसू लटके देखता तो उसके चेहरे पर सहानुभूति का भाव आ जाता। कभी मंगला मन का बोझ हलका करने के लिये अपना दुख उससे कह ही डालती तो वह ढारस बँधाता—"बराणज्यू (मालकिन) धीरज धरने से ही होता है।" कभी वह लक्ष्मीदत्त को चिट्ठी लिखवाने की बात समझाता कभी मायके में चाचा को संदेश भेजने की राय देता। मंगला जानती थी इन सब बातों से कुछ होने को नहीं। वह एक गहरी साँस ले चुप रह जाती। मंगला ने कई बार शेरूआ से पूछा—"शेरूआ बागेसर कितनी दूर है? कौन राह जाती है?"

"क्या करोगी मालकिन?···बागेसर का क्या होगा? बराणी (घरवाली) का अपने घर रहना ही ठीक होता है।" —शेरुआ ने समझाया।

"यह घर है?"—मंगला ने उत्तर दिया—"घर अपना कौन छोड़ता है? घर ही होता तो क्या बात थी। घर से तो इन लोगों ने निकाल ही रक्खा है मैं चिपकी हूँ। चली जाऊँगी, इन लोगों को भी चैन होगा मेरे भी दिन राम का नाम लेते कट ही जांयगे। यहाँ ही क्या है!"

"नहीं ऐसे मन छोटा मत करो बराणज्यू, मालिक आयेंगे। तुम्हारे दिन फिर जायँगे। देस-विदेस गये आदमी को घर लौटने में सौ झंझट होते ही हैं। धीरज धरो!"—शेरूआ समझाता।

मंगला जोगन बनने की बात सोचती रहती परन्तु साहस न कर पाती। दिन कटते जा रहे थे, कई महीने और कट गये। बरसात बीती ही थी, जंगलों में ईंधन प्रायः गीला था। एक दिन सास ने मंगला को ईंधन बटोर लाने भेजा। उसे लौटने में बेर होती देख सास थोड़ा सा पुराना धान ले खुद ही कूटने लगी थी कि मंगला लौटी। सास ने विलम्ब से आने के अपराध में धान कूटने का मूसल ही मंगला की कमर पर दे मारा।

मूसल की चोट से बैठ कर मंगला रोही थी कि सास ने एक लात और उसकी पीठ पर मार कर कहा—"क्यों रो रही है जनमने बालकों को! और किस को खायेगी? घर में बूंद पानी नहीं है। मर, जा कर एक गागर ला। नहीं तो अभी हड्डियां तोड़ती हूँ? बड़ी फूलजादी है। मूसल पीठ में छुआ भी नहीं और रो रो कर गाँव वालों को सुना रही है।"

मंगला गागर उठा पानी लेने खेतों में से उतर नीचे बावड़ी पर गई। ऊंची जात की बावड़ी से बहा हुआ जल नीचे इकट्ठा होता रहता था। वहाँ से शिल्पकार लोग पानी भर लेते थे। शेरूआ भी अपना घड़ा लेकर पानी लेने आया हुआ था। उसे देख मंगला ने रो कर और हाथ जोड़ कर कहा—"भाई शेरूआ, आज तू मुझे 'बागेसर' की राह बता दे! नहीं तो मैं दांतुल सिर में मार कर मर जाऊँगी। तुझे ब्राह्मणी की हत्या का पाप लगेगा!"

शेरूआ ने समवेदना से रोने का कारण पूछा। मंगला ने अपनी कमर पर हाथ रख कर कहा—"भाई, ऐसी मार तो नहीं खाई जाती। या तो आज रात चली जाऊंगी, या गले में रस्सी देकर मर जाऊंगी।"

शेरूआ ने बताया, बायें हाथ को जो पगडण्डी उतरती है, उससे कोस भर जाकर 'नतेड़ा' गांव है। फिर कोस भर पर 'जोबर' है। वहां से सड़क मिलती है। पांच कोस होगा बागेसर वहां से! पर बराणज्यू तुम भटक जाओगी। रात को जंगल में कहां भटकोगी। और कोई आदमी ही मिल जाय? कोई आदमी कैसा होता है?"

"तू सड़क तक पहुँचा देना ?"

"अच्छा"

"एक पहर रात गये यहां बावड़ी पर रहना । मैं आउंगी । देख, मेरी मदद करेगा तो यह कड़े तुझे दे दूंगी"—अपने हाथ के चाँदी के कड़े दिखाकर मंगला ने कहा । शेरूआ ने हामी भरली ।

× × × ×

उस रात मंगला चौके बर्तन का काम समाप्त कर सोने के लिये गोशाला की पौड़ पर गई तो जाकर सदा की तरह थकावट से लेट नहीं गई, घुटनों पर ठोड़ी रखे बैठी सोचती रही । कुछ देर बाद उठी और बिना आहट किये खेतों से बावड़ी की ओर उतर गई ।

बावड़ी के पास शेरूआ एक मैली सी पंखी (लोई) ओढ़े और हाथ में छोटी सी लाठी लिये झाड़ी की ओट में बैठा था । मंगला को देख सामने आ गया । मंगला उसके पास आ आगे चलने की प्रतीक्षा में चुप खड़ी हो गई ।

"लौटोगी नहीं ?"—शेरूआ ने पूछा

"ना"—मंगला ने सिर हिला दिया

शेरूआ आगे आगे चला और मंगला पीछे पीछे । कुछ दूर जा शेरूआ बोला—"गाँव को बचाकर चक्कर से चलें ? कोई पूछेगा तो क्या जवाब देंगे ? समझीं ? मंगला ने हामी भर ली ।

शेरूआ और मंगला आगे-पीछे रात भर चलते रहे । वे लोग सड़क पर नहीं पगडंडियों की ही राह चले जा रहे थे । पौ फटने को हो रही थी । शेरुआ ने मंगला को समझाया—"दिन की रोशनी में काहे को चलें ? कोई पूछेगा सवाल-जवाब करना पड़ेगा । यहाँ मेरे चचेरे भाई भोगिया लुहार का घर है, पास ही । थकी भी है तू । दिन में कुछ बना खाकर सो रहना । अलग से बर्तन और अनाज दे देंगे । रात को फिर आगे चल चलेंगे ।"

मंगला मान गई और ऐसे ही हुआ । शेरूआ ने अपने भाई से कहकर मंगला को बर्तन और चावल-दाल दिला दिया । भोगिया के घर के पास ही नीचे पानी था । मंगला नीचे उतर कर अपने हाथ से पानी ले आई ।

उसने अपने लिये बना कर खाया और किवाड़े बन्द किये, कुछ देर पड़ी सोचती रही और फिर सो गई।

उसकी नींद खुली तो किवाड़ों की फाँकों से झांक कर देखा, धूप सिमिट चुकी थी, सूरज डूबने को हो रहा था। सोचा, जरा अंधेरा हो जाय तो शेरुआ आये और फिर आगे चलें, जोगियों के अखाड़े में पहुंच जायें! उसका मन अभी से जोगिनों का सा हो रहा था और वह संकट से मुक्ति की साँस ले रही थी।

अंधेरा होने पर शेरुआ आया तो एक लत्ते में आटा लिये था, बोला—"भूखीं क्यों चलेगी। ले और पका कर खाले रात पड़ लेने दे। अब दूर ही कितना है! यहाँ से तो बागेसर तीन ही कोस है!"

इतने हित से शेरुआ ने कहा तो मंगला ने मान लिया। रोटी सेक खा कर वह चलने की तैयारी में बैठ गई। तब एक पहर रात बीते शेरुआ आया और मंगला के पास बैठ कर बोला—

"सुन बराणी, जोगन बन जायगी तो क्या जात बच जायेगी?"

"कहाँ जात बच जायगी; उदासी से मंगला ने उत्तर दिया—"जोगी, जोगन की जात क्या? जान बच जाये, जात का क्या है, कहाँ बचेगी?"

"तो फिर हम तुम बस जांय?···मेरे साथ कराव करले न!"—शेरूआ ने समीप सिमिटते हुये कहा।

मंगला सहसा कुछ कह नहीं सकी। वह सिमिट कर परे हट गई। शेरूआ ढीठ हो समीप सिमिट आया और पास बैठा लम्बे लम्बे, गरम-गरम सांस ले रहा था। मंगला ने उत्तर दिया—"ना शेरूआ, ऐसा कहीं होता है। जोगन ही बनूंगी। वही भाग में है।"

"मान जा"—शेरूआ ने मंगला के साथ सिमिट उसकी पीठ पीछे से हाथ रख दिया। मंगला ने "ना ना' कहा और रोकने के लिये शेरूआ के हाथ भी अपने हाथ में पकड़ लिये परन्तु वह लड़ाई न कर सकी। उसकी आँखें मुंद गईं और हाथ शिथिल हो गये। वह अपने ब्राह्मण आदमी से क्या चाहती थी! ······आदमी की बाट जोहती रही? और यह आदमी ही तो था! कितना अच्छा!······उसका आदमी बन रहा था!

रात का एक पहर क्या, तीन पहर बीत चुके थे। अंधेरी कोठड़ी में

मंगला जमीन पर शेरूआ की बाँह पर सिर रखे पड़ी थी। उसने पूछा—"तो कहाँ बसेंगे ?"

"इतनी पहाड़ की दुनिया पड़ी है, इतना देस पड़ा है। जहाँ हाथ-पांव हिलायेंगे बस रहेंगे।"

दो दिन शेरूआ और मंगला जोगिया के यहाँ ही रह गये। उन्हें सूरज निकलने डूबने का भी पता न चला। जोगिया भाई को शरण देने के लिये तैयार था परन्तु दो-दो जीवों को पेट भर खिलाते रहना उसके बस की बात न थी। उसकी अपनी घरवाली और लड़की और वह स्वयम् भी पड़ोस के गाव में फसल की कटाई में मजदूरी करते थे तो पेट भरता था। उसने शेरूआ और मंगला से भी कहा—"पेट भरने को तुम भी कुछ हाथ-पाँव हिलाओ !"

शेरूआ खेतों पर जाने के लिए तैयार हो गया और मंगला भी तैयार हुई। भोगिया ने उसे समझाया—"यह सोने की फुल्ली और चाँदी की इतनी भारी हँसली और कड़े किसने कब शिल्पकारों के यहाँ देखे हैं ? लोगों की आंखों में गड़ेंगे। ला इन्हें दे दें। सम्भाल कर रख दूं।"

मंगला ने गहने उतार दिये। असली गहना अब उसके मन में था। भोगिया की बहू की ही तरह अपने चीथड़ा लंहगे को सम्भाल और चदरे का फेंटा दे वह फसल की कटाई के लिए खेतों में गई और शिल्पकारों की तरह खेत काटती रही।

दो तीन दिन यह चला। शेरूआ ने कहा—"ऐसे थोड़ी ही चलेगा। इसके यहाँ कितने दिन निभेगा ? हम लोग बागेसर से देश को निकल जाँय। घर पर मेरी थोड़ी चाँदी दबी रक्खी है। मैं जाकर ले आऊं। तू जोगिया के साथ कल 'बागेसर' पहुँच जा।"

अगले दिन भोगिया मंगला को साथ ले बागेसर पहुंचा। बागेसर के बाजार में मुसाफिर जिन दुकानों से सौदा-पत्ता खरीदते हैं, उन्हीं दुकानों पर ही टिक भी जाते हैं। शिल्पकारों के लिए किसी दुकान में घुसना सम्भव नहीं। वे या तो किसी शिल्पकार के घर ठहरे या तीन चार मुसलमान दुकानदारों में से किसी के यहाँ। भोगिया बागेसर आता था तो लोहा और दूसरा सौदा-सुल्फ नज़ीर पंसारी के यहां से खरीदता और उसी

के यहाँ रात भी काट लेता। शेरूआ को उसने नजीर के यहां का ही पता दिया था। भोगिया मंगला को लेकर संध्या समय बागेसर नजीर के यहाँ पहुँचा। आते ही उसने कहा—"मेरी भौजी साथ है। ठहरेंगे, जगह चाहिए। मेरा भैया भी आता होगा।" नजीर मियां ने जगह दे दी।

आधी रात गए तक भी शेरूआ नहीं आया। मंगला का मन घबरा रहा था। दूसरे दिन सुबह भी शेरूआ न आया। दोपहर के समय शेरूआ तो क्या आता, जोगिया भी गायब हो गया।

संध्या को भी भोगिया को लौटा न देख नजीर मियां ने मंगला से पूछा—"बहू तेरा आदमी नहीं आया। तेरा देवर कह गया था—"सौदे के लिए दाम कम पड़ रहे हैं। घर जाता हूँ लेकर शाम तक लौटूंगा। सो अभी आया नहीं।"

मंगला ने सुना तो उसके दिमाग में खटका हुआ। उसने पूछा—"मेरा जेवर उसके पास था!"

"मुझे तो और कुछ नहीं कह गया। लौटा नहीं, वो-सबेरे आता होगा। तेरे खाने वाने का क्या होगा?"— मंगला चुप रह गई!

नजीर मियां ने सोचा बेचारी वह भूखा काहे को रहे। पड़ोस में जाकर हिन्दुओं से कहा—"वह शिल्पकार बहू को छोड़ कर सौदे का रूपया लेने घर गया था, लौटा नहीं। अभी तक बेचारी राह देखती रही। उसने कुछ आटाचावल मांगा नहीं। तुम लोगों के यहाँ बना कुछ फालतू हो तो दे दो। भूखी काहे को रहे।'

पड़ोस में सुनार का घर था। उसने बहू के लिये दो रोटी तरकारी दे दी। मंगला ने खा तो ली परन्तु सोचती रही, जाने क्या होने को है!

अगले दिन भी जब दोपहर तक न भोगिया और न शेरूआ ही लौटा तो वह निराश हो भाग्य का खेल देखने की प्रतीक्षा में बैठ गई। नजीर मियां ने आकर अश्चर्य प्रकट किया—"तेरे आदमी क्यों नहीं आये? क्या बात है? खैर तू सौदा ले ले और बनाकर खा; भूखी क्यों बैठी रहेगी?"

जब उस दिन भी सांझ तक कोई नहीं आया तो नजीर ने चिन्तित स्वर में कहा—"बहू तेरे आदमी कहीं झगड़े में तो नहीं फँस गए? सुनते हैं, मसेड़ा से शिल्पकारों ने कोई ब्राह्मणी भगाई है और लापता हैं। उनकी

ढूंढ़ हो रही है तेरा आदमी और देवर उसी झगड़े में तो नहीं फँस गये ?"

मंगला रो उठी—"बाबा मैं ही तो हूँ !"

नज़ीर मियाँ के पाँव तले की धरती निकल गई—"तो क्या मुझे मरवाओगे !......अच्छा धोखा किया तुम लोगों ने !......भाई तुम लोगों को जहाँ जाना था अपने चले जाते। वे लोग तो तुझे छोड़ अपनी जान बचाकर भाग गये और जान पड़ता है तेरा जेवर भी ले गये। पुलिस मुझे भी पकड़ेगी और-तेरी भी मिट्टी खराब करेगी।"

"बाबा अब तुम जानो जैसे हो बचाओ।" रोकर मंगला ने उत्तर दिया।

"मै क्या जानूं बहू !" नजीर ने परेशानी से उत्तर दिया—"हिन्दुओं की बस्ती है, कांग्रेसी राजा, लोग सुनेंगे मेरे घर में हिन्दू औरत है तो मेरी तो बोटी नहीं बचेगी। तू कहीं चली जा। किसी हिन्दू के घर जा कर ठहर। जहाँ कहे मैं पहुंचा दूं !"

मंगला रोती रही—"बाबा मैं किसी को जानती नहीं। तुम चाहे जो करो। निकाल दोगे तो जाकर राह पर बैठ जाऊंगी।"

नजीर मियां माथा ठोक कर रह गये। मंगला को ज़ारोज़ार रोता देख नज़ीर मियां ने कहा—"बहू, अब रोती क्यों है। शायद वो लोग आही जांय। मेरे लिये तू बेटी की जगह है। यहां तुझे डर लगता है तो चल भीतर जनाने में बैठ जा। खाना तू अपना अलग से दो पत्थर रख कर बना लेना।" वे मंगला को दुकान के पिछवाड़े अपने घर में बैठा आये।

× × ×

शेरूआ भोगिया के यहां से मसेड़ा गया था कि अपनी दबी हुई चांदी निकाल कर बागेसर पहुँचा जाय। रात पड़े अपने घर पहुँचा तो उसे मालूम हुआ कि ब्राह्मण-ठाकुर लोग मंगला के भाग जाने से बहुत बिगड़ रहे थे! और उसका सिर फोड़ने के लिये उसे भी ढूँढ़ रहे थे। बागेसर में पटवारी के यहाँ भी लोगों ने रपट लिखा दी है।

शेरूआ ने यह सुना तो उसके औसान खता हो गये। उसने झ अपनी चाँदी निकाली और रात के अंधेरे में ही बिना आहट किये जंगल-जंगल की राह रानीखेत की तरफ निकल गया।

मसेड़ा से बन्सीधर पांड़े की बहू को शिल्पकारों के भगा ले जाने की

खबर बागेश्वर में पहुंची और साथ ही सन सनी फैल गई कि नज़ीर मियां के यहाँ कोई हिन्दू औरत भी बन्द की हुई है। लोगों ने जाकर पूरन साह कांग्रेस वाले के यहाँ दुहाई दी, यह क्या जुल्म हो रहा है? नजीर के यहाँ अभी तलाशी होनी चाहिये।

नज़ीर मियां की दुकान और मकान भीड़ से घिर गये। पटवारी को लेकर पूरन साह भी आ गये। भीड़ से घिरे नज़ीर मियाँ हाथ जोड़े गिड़गिड़ा कर कह रहे थे:—"भाइयो, मैं क्या जानूं! भोगिया शिल्पकार अपनी भौजी बता गया है। कहता था मेरा भैया भी आ रहा है। वो हमेशा से दुकान पर सौदा लेता था और टिकता था, इस दफे भी मैंने टिका लिया। कहता था, सौदे के लिये दाम कम पड़ गये हैं। अपनी भौजी को छोड़ घर दाम लेने के लिये गया था, सो लौटा नहीं। मैं तो बहू से हाथ जोड़ कर कहता रहा—अपने आदमियों के आने तक किसी हिन्दू भाई के घर बैठ। वह घबड़ाहट में रोती जा रही है। मैंने सोचा, अकेली डर रही है, इसलिये जनाने में बैठा दिया।"

लोग क्रोध में तर्क कर रहे थे—यह मुसल्ले कभी बाज़ नहीं आ सकते। हिन्दू औरत को मुसलमान के जनाने में बैठाने का क्या मतलब? या तो यह दुकान पर रहती तो हम मानते कि मुसाफिर है। घर में बन्द करने का मतलब ही भगाना है।

मंगला को नजीर मियां के घर से निकाला गया और उसके साथ ही नज़ीर मियां को भी पुलिस की हिरासत में ले लिया गया।

बागेश्वर में थाना नहीं, हवालात नहीं। पुलिस के अधिकार पटवारी साहब को ही हैं। पुलिस अफसर की हैसियत से उनका दर्जा सबइन्सपैक्टर का है। मंगला को बस्ती के पधानों की सहायता और सहयोग से हिरासत में लेकर उन्होंने तहकीकात के दौरान में उसे पूरन साह के मकान पर रखी जाने का हुक्म दे दिया।

नयी जगह जाने के विचार से मंगला को आशंका हो रही थी। उसने मिन्नत की, उसे नज़ीर मियां के घर उनकी बुढ़िया बीवी और लड़की के पास ही रहने दिया जाय। परन्तु हिन्दू औरत को मुसलमान के घर कैसे रहने दिया जा सकता था? स्थानीय हिन्दू जनता को संतुष्ट करने के लिए

हिन्दू औरत को अपने घर रखने वाले मुसलमान नज़ीर मियां और उनके जवान लड़के को भी गिरफतार करना आवश्यक था।

पूछने पर, मंगला ने अपनी उम्र बताई थी बीस-इक्कीस बरस। इसमें एक कानूनी गुत्थी थी। बीस बरस की औरत के भगाए जाने का मामला पुलिस दफा ४९८ में उसके पति की शिकायत अदालत में आये बिना हाथ में नहीं ले सकती थी और न मंगला को जबरन नज़ीर के घर से हटाया जा सकता था। मामले का चालान दफा ३६३ और ३६६ में करने के लिये मंगला की उम्र लिखी गई सत्रह बरस।

इधर-उधर भागता छिपता हुआ भोगिया चौथे दिन गिरफतार हो गया। चारों गिरफतार व्यक्तियों मंगला, नज़ीर, उनके लड़के बशीर और भोगिया को अदालत में मामला चलाने के लिये अलमोड़ा लाया गया। भोगिया, बशीर और नज़ीर मियां जेल की हवालात में बन्द हो गये।

मँगला को मजिस्टेट साहब के हुक्म से सरकारी खर्च पर विधवाश्रम में सुरक्षित रख दिया गया ताके शेरूआ, भोगिया बशीर और नज़ीर के विरुद्ध मुक़दमें में पुलिस की ओर से गवाही में पेश होने के लिये मौजूद रहे।

पहाड़ से स्त्रियों के बहका कर भगाये जाने के मामले अधिक होने के कारण ऐसे अपराधों की जाँच-पड़ताल और रोक-थाम के लिए अलहदा अफ़सर नियत थे। मजिस्ट्रेट साहब के अलमोड़ा आने की प्रतीक्षा में मंगला को विधवाश्रम में रखा गया था। उसके साथ जो व्यवहार हो रहा था, उसे वह दण्ड समझ कर सह रही थी। उसने समझा कि पति के घर से भागने के अपराध में उस पर सरकारी कब्जा हो गया है। उसे किसी प्रकार की आपत्ति करने का अधिकार नहीं है।

जाड़े के मौसम में यह मजिस्ट्रेट साहब अलमोड़े की सर्दी में आना कम पसन्द ही करते थे। इसलिये तीन मास प्रतीक्षा करने के बाद मंगला को पटवारी साहब की निगरानी में, और दूसरे अभियुक्तों को पुलिस की हिरासत में हलद्वानी भेज दिय गया।

दो एक दिन पटवारी साहब मंगला के लिये उचित स्थान की खोज में उसे होटलों और सिनेमा के चक्कर लगवाते रहे और फिर उसे 'सरकारी स्त्री रक्षा भवन' में जमा करा दिया गया। पुलिस शेरूआ को गिरफतार

करने के लिए और मामले की तहकीकात के लिए अदालत से मोहलत पर मोहलत माँगती चली जा रही थी और मंगला परेशान हो रही थी।

गर्मी का मौसम आ गया और जज साहब अलमोड़ा चले आये। हलद्वानी में तहकीकात पूरी नहीं हो सकी और न मामले का फैसला हो सका था। पुलिस मंगला को फिर अलमोड़ा लौटा ले आई। मुकद्दमे की गवाही में पेश करने के लिये उसे फिर विधवाश्रम में जमा कर दिया गया।

मंगला का रंग अब भी गोरा था पर गुलाबी पन की जगह मुर्दनी छा गई थी। शरीर हड्डियों का ढाँचा भर रह गया था। उसे दिक की और दूसरी जाने कौन-कौन शिकायतें हो गई थीं। परन्तु सरकार को गवाही के लिए उसकी ज़रूरत थी। उसे भाग जाने कैसे दिया जाता ? मंगला को सम्भाल कर रखने की जिम्मेवारी लेने के लिए कोई तैयार न था। अब उसकी बीमारी से विधवाश्रम भी ऊब चुका था। सरकार के हुक्म से उसे हस्पताल में रखा गया कि अदालत में अपराधियों के विरुद्ध सरकार की ओर से गवाही में पेश हो सके।

वह मरणासन्न रोगिणी हस्पताल के लिये भी मुसीबत थी। उसकी खाट एक ओर डाल दी गई। क्षय के रोगी के लायक खुराक उसके टिकट पर लिखी गई थी परन्तु उसे क्या मालूम और क्या अधिकार था उसे मांगने का ? लोगों की दृष्टि में न तो उसके जीते रहने की आवश्यकता थी और न उसे जीते रहने के साधनों पर अधिकार ही था। उसके लिये दी जाने वाली दवाई भी यों ही पड़ी रहने लगी।

मेहतर गुलाब को ज़ाने उस पर क्यों दया आ गई। वह उसे दवाई पिला देने लगा और उसने अपनी बुढ़िया मां मिसरी को, जो जनाना वार्ड में मेहतरानी थी, मंगला का ख्याल करने के लिये कहा। हस्पताल में मेहतर से ज्यादा खयाल और कौन कर सकता है ! मिसरी उसके लिये इधर-उधर से दूध और शोरबा समेट लाने लगी। पहले तो मंगला को झिझक हुई परन्तु उसने सोचा, मेरे लिये अब जात का क्या सवाल ! वह खाने-पीने लगी और पनपने भी लगी।

अदालत में जब उसकी ज़रूरत होती, उसे हस्पताल से डांडी पर लाया जाता था। अभी वह पूरे तौर पर चंगी न हो पायी थी कि अदालत ने

मामले में फैसला दे दिया। शेरूआ अब भी गिरफतार नहीं हो पाया था। और नज़ीर मियां हवालात में ही इन्तकाल कर गये थे। पुलिस की बहुत इच्छा होने पर भी सफ़ाई के वकीलों ने यह साबित न होने दिया कि मंगला की उम्र १७ बरस की थी। भोगिया और बशीर पहले ही जमानत पर छूट चुके थे। अदालत ने रिहा किया केवल अपने गवाह मंगला को। उसे हुक्म हुआ कि अब तुम जा सकती हो। सरकार ने तुम्हारे हस्पताल में रहने का इन्तजाम मंसूख कर दिया है।

मंगला पुलिस और वकीलों के टेढ़े-मेढ़े सवालों का जवाब देने के लिये विवश होकर अब तक कुछ ढीठ हो चुकी थी "हाय तो मैं अब कहां जाऊं?" उसने अदालत से पूछा।

"जहाँ तुम्हें जगह मिले! जो कोई तुम्हें रख ले"—अदालत का जवाब था।

"तो मुझे नज़ीर मियां के यहाँ से ही क्यों लाये थे जबरदस्ती?" अदालत के पास कोई जवाब न था।

जाने को मंगला के लिये कोई जगह न थी। उसे कौन अपने यहाँ रखता? हस्पताल का दरवाजा उसके लिये बन्द हो चुका था।

सोच-सोचकर वह गुलाब मेहतर के घर चली गई! मिस्री और गुलाब ने उसे हाथों हाथ लिया। मंगला गुलाब के घर रह गई। कुछ दिन बाद लोगों ने देखा कि मंगला गुलाब मेहतर की सिला कर दी हुई रेशमी सलवार और कमीज पहन, रंगीन चुनरी ओढ़ अलमोड़ा के बाजार और सड़कों पर निधड़क घूमने लगी।

अलमोड़ा के कुलीन ब्राह्मण समाज के सीने में कसमसाहट हुई और एक मेहतर के घर ब्राह्मणी के जा बैठने के अपमान से उनके सिर में चक्कर सा आ गया। यह वे कैसे सह सकते थे? सदा के लिये ब्राह्मणों की नाक कट जाती? अलमोड़ा में शोर मच गया। धर्मपरायण उत्साही ब्राह्मण समाज ने कहा, फूक डालो ब्राह्मणों का अपमान करने वाले मेहतर का घर, नगारची टोले में मेहतर गुलाब का मकान बड़ी भारी भीड़ ने घेर लिया।

गुलाब अपने दरवाजे पर खड़ा भय से काँप रहा था और हाथ जोड़कर गिड़गिड़ा रहा था—"आप लोग अन्नदाता है। मेरी क्या मजाल कि

कुछ एतराज करूं ? आप लोग इसे हुक्म दीजिये चली जाय यहाँ से मैं अगर रोकू तो मेरी सजा मौत ?—"

लेकिन मंगला गुलाब के घर से निकलने के लिये तैयार न थी।

बात बढ़ गई देख पुलिस का दस्ता लेकर मजिस्ट्रेट घटना-स्थल पर पहुंचे। भीड़ को शान्त करने और स्थिति को काबू करने के लिये उन्होंने पुलिस से पकड़वा कर मंगला को गुलाब के घर से निकलवाया।

मंगला रो पड़ी मैं यहीं हीं रहूंगी

'तुम यहाँ नहीं रह सकती—'मजिस्ट्रेट साहब ने हुक्म दिया।

'तो फिर कहा जाऊं !' मंगला ने पूछा

'हम नहीं जानते !'—मजिस्ट्रेट ने उत्तर दिया और शायद फिर अपने उत्तर पर स्वयम लज्जित हो उन्होंने मंगला को मेहतर के घर से निकालने की माँग करने वाली जनता को सम्बोधन कर पूछा—"आप लोगों में से कोई इसे अपने यहाँ रखेगा ?"

किसी ने हामी न भरी। भीड़ छंटने लगी।

मंगला ने माथा पीट लिया कि सरकार उसे फांसी पर क्यों नहीं लटका देती ! रहने की जगह नहीं देती और जहाँ वह रह सकती है, वहां उसे रहने नहीं देती।

मैजिस्ट्रेट अपनी आँखों में आये आँसू पी गये और सब इन्सपेक्टर को हुक्म दे दिया—"फिलहाल इसे विधवाश्रम पहुंचा दिया जाय।"—और स्वयम् चल दिए।

मंगला ने चिल्लाकर विरोध किया—"मैं विधवाश्रम में नहीं रहूंगी, कभी नहीं रहूंगी।"

मैजिस्ट्रेट साहब ने घूमकर नहीं देखा। देखते तो उत्तर क्या देते ? इसलिए उन्होंने सुना नहीं। पुलिस जबरदस्ती मंगला को विधवाश्रम ले गई और वहां उसे जमा करा दिया।

दूसरे दिन सुबह ही विधवाश्रम से थाने में रिपोर्ट पहुंची कि मंगला भाग गई और साथ एक और विधवा को भी ले गई।

पुलिस ने मोटर पर पीछा किया और 'कोसी' नदी पार कर सकने से पहले ही मंगला दूसरी विधवा के साथ भागती हुई पकड़ ली गई।

मंगला विधवाश्रम से भागने के अपराध में गिरफ्तार होकर अदालत मजिस्ट्रेट साहब के सामने पेश हुई।

मैजिस्ट्रेट साहब ने सरकारी वकील से राय ली—"कानून की किस दफ़ा के मातहत इसे विधवाश्रम से भागने के लिये सज़ा दी जा सकती है ?"

"हुजूर ऐसी तो कोई दफ़ा नहीं।"

"किस दफा के मातहत इसे विधवाश्रम में जबरदस्ती रखा जा सकता है ?"

"हुजूर, ऐसी तो कोई दफ़ा नहीं"

दूसरी विधवा की ओर देख मैजिस्ट्रेट साहब ने कहा—"यह औरत सत्रह वर्ष से कम उम्र की मालूम होती है।"

"जी हुजूर।"—सरकारी वकील ने समर्थन किया।

"इसे विधवाश्रम लौटाया जा सकता है। यह अभी वहां रहने लायक है।"—अदालत ने फैसला दिया और मैजिस्ट्रेट साहब ने मंगला को सम्बोधन किया—"तुम जहां चाहो जा सकती हो।"

"गुलाब मेहतर के यहां जाऊँगी"—मंगला ने निडर हो अदालत को सुनाया।

अदालत, को इससे कोई मतलब नहीं था इसलिए अदालत चुप रही।

× × ×

मंगला कानून से जीत गई परन्तु समाज हारा नहीं। कुछ ही दिन बाद ऊँची जात की धमकी से डरे हुए अलमोड़ा के मेहतरों की पंचायत हुई। गुलाब को बीच में खड़ाकर सवाल किया गया :—

हम लोग गैर जात की बेटी घर में डालेंगे तो हमारी बेटियों के लिए कहां जगह होगी ? गुलाब को जात से बेकार किया जाय ?

गुलाब ने सिर झुकाकर मुआफ़ी मांगी—पंचो का हुक्म सिर माथे, आज ही उसे घर से निकाल देता हूँ।

मंगला फिर निकाल दो गई।

डाक्टर

१०

कांग्रेस आन्दोलन में दो बार जेल जाने से अपना कारोबार चौपट हो ही रहा था, शेष चौपट कर दिया चोर-बाज़ारी ने। भलमनसाहत की राह चलने वाले व्यापारी के लिये बाजार में माल ही नहीं था। निश्चय किया—यह सब झगड़ा छोड़ एक लारी भाड़े पर चलाने का काम कर लिया जाय।

बहुत दिन हुए, इस मतलब की एक दरख्वास्त, जिला कांग्रेस के प्रधान की सिफारिश सहित, लखनऊ सचिवालय (सेक्रेटेरियेट) में परमिट के लिये भेजी थी। यह दरख्वास्त सचिवालय की भूल-भुलैयां में राह भूल, जाने कहां थमी रह गई। अपने ज़िले के एक सभासचिव (पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरी) हैं। उनसे परिचय है और अपने को मानते भी हैं। उनके साथ एक बार जेल भी काटी है। सोचा, लखनऊ जाकर उनकी मार्फत यत्न किया जाय।

कई दिन से आंखें आई हुई थीं परन्तु इस काम की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इसी मतलब से एक दिन के लिए लखनऊ गये थे। सभासचिव साहब के बंगले का ठीक ठिकाना मालूम न था। होटल का खर्चा बचाने के लिये इंटर—जिसे बाद में साधारण-सैकण्ड का सम्मानजनक नाम दे दिया गया, के वेटिंगरूम में झोला, बिस्तर चौकीदार को सम्भलवा कर सचिवालय की राह ली। विचार था, दिन में काम पूरा कर रात की ही गाड़ी से मेरठ लौट चलेंगे। सभासचिव साहब तक पहुंच पाने में ही अड़चन थी। उसी में साढ़े-पाँच बज गये। मिलने पर उन्होंने काम करवा देने का आश्वासन दिया और कागज़ पर सब बातें नोट कर लीं।

आँखों में कष्ट होने के कारण लखनऊ के सदा दिवाली मनाते, बिजली से जगमग बाजारों में घूमते न बनता था। आठ ही बजे स्टेशन लौट आये। वेटिंगरूम में भी खूब बिजलियाँ जल रही थीं। काली ऐनक लगाये रहने पर भी रोशनी से आँखों में चुभन होती थी। गाड़ी में अभी बहुत देर थी। आँखों को अँधेरे में विश्राम देने के लिए स्टेशन से कान्यकुब्ज कालेज के चौराहे तक जो बिना रोशनी के सड़क का भाग है, उसी पर चहल कदमी कर रहे थे। दूसरे लोग भी आ जा रहे थे।

अचानक पाँव धरती से उठ गये। मैं गिर पड़ा और मेरे ऊपर, मुझे जकड़े हुए एक भारी बोझ। साथ ही चीख सुनाई दी—"चोर-चोर!" किसी ने मुझे बेखबरी में पीछे से कौली में जकड़ धरती से उठा कर पटक दिया और धरती पर दबाये चिल्ला रहा था—"चोर-चोर पकड़ो!" एक दूसरे व्यक्ति ने मेरी पिंडलियों पर बैठ दोनों हाथों को काबू कर लिया और एक सीटी बजादी।

राह चलते लोग और एक टांगा भी ठिठक गया। मुझे धरती पर गिरा कर दबाये रखने वाले चिल्लाने लगे—"जेल से भागा कैदी है। पकड़ो पकड़

पुलिस वाले दो थे। सीटी की आवाज से साइकिल पर दो सिपाही और आ गये। राह चलते लोगों ने जेल से भागे कैदी को वश करने में सहायता दी। समझाने का यत्न किया—"ठीक से पहचान तो लो भाई। मेरठ का रहनेवाला मुसाफिर हूँ।...कांग्रेस का मेम्बर हूं। वेटिंगरूम में ठहरा हूँ. चल कर असबाब देख लो।"

परदेस में कौन सुनता? किसी ने फबती कसी—"साला कांग्रेसी बना हुआ है?" दूसरे ने कहा—"अब साले सब चोर सफेद टोपी पहनने लगे हैं।"

विरोध का अवसर न देख चुप रह गया कि जिम्मेदार अफ़सर के सामने ही बात करूँगा। पहले भी पुलिस से अवसर पड़ चुका था। अब तो अपनी कांग्रेसी सरकार की ही पुलिस है, गलत-फ़हमी दूर हो जायगी!

पुलिस वालों ने एक अंगोछा ऐंठ कर दोनों मेरे हाथ पीठ पीछे बाँध. चारों ओर से घेर, कोहनियों से पकड़ स्टेशन की हवालात में पहुंचा दिया।

अगले दिन होली थी, इसलिए स्टेशन के थाने में भी मुस्तैदी कम ही दिखाई दी। छनने-बनने की बातें हो रही थीं। जिस भयंकर फरार व्यक्ति की भूमिका में मुझे गिरफ्तार कर लाया गया था, उसकी चर्चा से कुछ गम्भीरता आ गई। मुझे तुरन्त ही एक जंगलेदार दरवाजे के पीछे मूँद दिया गया। वहां पांच "आदमी" पहले से थे। उमस और दुर्गन्ध असह्य हो रही थी। एतराज करने पर उत्तर मिला—"दरोगा साहब को खबर भेजी है। आकर जैसा हुक्म देंगे किया जायागा।"

दरोगा साहब आये। जान पड़ता था कि आराम छोड़ कर आये हैं। उनके कुर्सी पर बैठते ही एक सिपाही ने एक छपी हुई तसवीर और दूसरे कागज उनके सामने रख दिये।"

कोठरी की उमस और दुर्गन्ध के कारण दरोगा साहब का ध्यान पाने की प्रतीक्षा करते रहना असम्भव हो रहा था, इसलिए जंगले के समीप खड़े हो स्वयम् मैंने ही पुकारा—"जनाब यह क्या अंधेरगर्दी है ?"

दरोगा साहब ने एक उड़ती हुई नजर मेरी तरफ़ डाली और फिर सिपाहियों की बात ध्यान से सुनने लगे। आखिर एक टार्च जलाकर वे हवालात के जंगले के सामने आये और टार्च की रोशनी मेरे चेहरे पर केन्द्रित कर दी। हाथापाई में धूप की ऐनक गिर गई थी। रोशनी से आँखों में कष्ट होने के बावजूद, अपने आपको अच्छी तरह दिखा कर सन्देह से छुट्टी पाने के लिए अपने आपको और आगे बढ़ा दिया।

गिरफ्तार करने वाले सिपाही ने जंगले के भीतर हाथ डाल मेरे जबड़े पर बने चोट के लम्बे निशान को छू कर दिखाया और बोला—"कद दोहरा, रंग गंदमी, माथा नीचा, बाल घुघराले....। रात में भी धूप की ऐनक लगाये, टोपी माथे पर खींचे मजे-मजे अंधेरे में रेलवे गिराउण्ड की दीवार से चिपके जा रहे थे...................."

"बहुत भागे रहे"—दूसरे सिपाही ने मुँह में पान सम्भालते हुये कहा—"तीन माह सत्ताइस दिन दुनियाँ की सैर करली। जाने कितना ऊधम और किया होगा।"

तीसरे ने कहा—"कानपुर खबर दीजिये। वहाँ से आकर आदमी पहचान ले तो ठीक हो जाय।"

बात समझ में आई :—कानपुर जेल या हवालात से भागे किसी कैदी के सन्देह में मुझे पकड़ा गया है। वह सन्देह दूर करने की ज़रूरत थी। बोला—"आप देख तो रहे हैं कि मेरी आँखें आई हुई हैं। इसीलिये धूप की ऐनक लगा कर अंधेरे में घूम रहा था।" अपना नाम बताकर कहा-'मेरठ का रहने वाला हूं; कांग्रेस का पुराना मेम्बर और कार्यकर्ता हूँ। यहाँ वेटिंगरूम में जाकर देख लीजिये मेरा बिस्तर और झोला पड़ा है या नहीं! आप……जी पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी साहब के बंगले पर फोन कर लीजिये कि मैं लखनऊ आया हूँ कि नहीं! आज ही शाम मैं उनसे मिला हूं।… आप अपनी तहकीकात कर शक दूर कर लीजिये। मैं सरकारी काम में दखल नहीं देना चाहता लेकिन यहां गर्मी और बदबू की वजह से दम घुट रहा है। मैं बाहर बैठता हूँ। कांग्रेसी हूं। भागना मेरा काम नहीं। आपके सामने बैठा रहूँगा। चाहें तो पाँव बाँध दीजिये। यह दम घुटना बर्दाश्त नहीं कर सकता। 'आदमी' को आदमी समझिये।—"

बात का असर हुआ। कोठड़ी से बाहर निकाल कर दारोगा साहब के समीप कुर्सी दे दी गई। दो सिपाही राइफल लेकर दोनों तरफ खड़े हो गये।

दारोगा साहब विनय से बोले—"इसमें बात ही क्या है। हम डी० एस० पी० साहब के यहाँ फोन कर रहे हैं। वे पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी साहब से दर्याफ्त कर लेंगे। आपको जहमत हो रही है। लेकिन हम लोग आप ही की सरकार का हुक्म बजा ला रहे हैं। इन सिपाहियों का भी क्या कुसूर। यह जो कम्युनिस्ट कानपुर जेल से फ़रार हो गया है, पूछिये नहीं; सूबे भर की पुलिस परेशान है। साहब इन लोगों का ठिकाना क्या? शहर को आग लगादें, रेल पलट दें, शहर के नलों में ज़हर मिला दें। मिनिस्ट्री से रोज़ तहकीकात हो रही है कि बदमाश भागा कैसे? अभी तक पकड़ा क्यों नहीं गया?……बस शक रफ़ा करना है।"

आधे घण्टे बाद फोन सुन कर काँस्टेबल मुशी ने खबर दी कि डी० एस० पी० साहब के यहाँ से हुक्म है कि पार्लियामेंटरी सैक्रेटरी साहब तो शाम से ही मोटर पर इलाहाबाद गये हैं। मशकूक को कानपुर और मेरठ में तहकीकात होने तक हवालात में ही रखा जाय।

लखनऊ में अपना परिचित और जमानत देने वाला दूसरा कौन होता?

अपनी सरकार को नहीं, अपने भाग्य को और कम्युनिस्टों को ही दोष दिया जिन्होंने स्वाराज्य के आरम्भ में ही ऐसी स्थिति पैदा कर दी है। हवालात में बन्द हुये बिना चारा नहीं था। इसलिये दारोगा साहब से ज़ोरदार शब्दों में कहा—"आप अपना सन्देह दूर करने के लिए हिरासत में रखना चाहते हैं, मैं खुद ही नही भागूँगा। लेकिन उस बदबू और उमस में आप मुझे हरगिज बन्द नहीं कर सकते।"

दारोगा साहब को सहानुभूति सूचक मुद्रा में चुप होते देख तख्त पर डेस्क के सामने बैठे कांस्टेबल मुंशी ने कलम से कान खुजाते हुये कहा — "मुसीबत है कि नम्बर ३ में दो औरतें बन्द हैं और नम्बर एक में वह बदमाश—!"

"अच्छा वो"—सोचने के लिये एक सिगरेट सुलगा और दो तीन कश खींच दारोगा साहब ने सिपाहियों को परे हट जाने का संकेत किया। और अपनी कुर्सी मेरी तरफ खिसका कर बोले—"देखिये" अगर बात मेरे ही हाथ की होती तो खत्म हो जाती। यह तो जाब्ता पूरा करने की बात है। यह जगह बेशक गन्दी है, नम्बर तीन में औरतें हैं। उधर १ में एक बदमाश कम्युनिस्ट है। अब आप की ही कांग्रेसी गवर्मेन्ट है आप को ही तो निबाहना है। जाने उसके साथ रहना आप को इसमें भी नागवार हो। पर आप को तो सरकार की मदद करना है, आप करेंगे ही। सरकार ही आप की है। उसके साथ रह जाइये क्या हरज़ है? उसका कुछ पता मिले। यह लोग कांग्रेसी भाइयों की तरह ईमानदार तो हैं नहीं कि सब जाहिर है। यह लोग देश के लिये बड़ा भारी खतरा हैं। अंडरग्राउण्ड काम करते हैं। जनता की सहायता से ही यह बस में आ सकते हैं।'

बंद होना लाज़मी था। इतनी कुर्बानियाँ कर जिस कांग्रेसी सरकार को जमा पाये हैं, संकट में भी यदि उसकी कुछ मदद हो जाय तो इनकार क्या? हामी भरली। होली की वजह से कानपुर और मेरठ दोनों ही जगह खबर जाने और आदमी आने में समय लगा। इस बीच साथ बन्द दूसरे हवालाती से जो बातचीत हुई वह कुछ असाधारण ही थी। उसका भेद लेने में कुछ छलछंद या चातुर्य की आवश्यकता न पड़ी। वह अपनी कहानी सुनाने के लिये जैसे आतुर ही था:—

डाक्टर रफीक अहमद ने किन कठिनाइयों से लड़ कर, किस महत्वाकांक्षा से डाक्टरी की पढ़ाई पूरी कर आदर पूर्वक परीक्षा पास करली, वह तो स्वयम एक कहानी है। भूमिका रूप में इस पूरी कहानी को भी यहाँ जोड़ने से बात बहुत बढ़ जायगी। इसलिये रफीक अहमद के डाक्टर बन जाने के बाद से ही बात आरम्भ करते हैं।

यहाँ इतनी बात और कहदें कि रफीक ने परीक्षा में प्रथम आने के लिये जितना परिश्रम किया था और उसके परिश्रमी तथा तीक्ष्ण बुद्धि होने के कारण जैसे दूसरे लोगों को आशा भी था, वैसी सफलता उसे न मिली। यदि उसे पूरी सफलता मिल जाती, वह परीक्षा में प्रथम पास होकर बिलायत जाकर आगे पढ़ने के लिये सरकारी वजीफा पा जाता और फिर लौट कर कालिज में डाक्टर बन जाता तो यह कहानी इस प्रकार न लिखी जाकर दूसरी तरह लिखी जाती। डा० रफीक को अपनी पढ़ाई और परीक्षा की तैयारी के साथ-साथ पढ़ाई का खर्चा जुटाने के लिये इण्टर में पढ़ने वाले दूसरे लड़कों के घर जाकर पढ़ाना भी पड़ता था। पढ़ाई के लिये आवश्यक बहुत सी पुस्तकें भी वह खरीद न सका था। वह प्रथम न आ सका परन्तु योग्यता पूर्वक पास हो गया और उसे डाक्टरी कालेज के हस्पताल में बरस भर के लिये 'वार्ड डाक्टर' की नौकरी मिल गई। इस सफलता के बावजूद डा० रफीक के मन में कलख था। कलख यह था कि योग्यता और सामर्थ्य होते हुये भी परिस्थितियों के कारण उसे उन्नति का अवसर नहीं मिला, क्योंकि वह समृद्ध घराने में पैदा नहीं हुआ था। उसे अवसर नहीं मिला और वह अपनी मेहनत का उचित फल नहीं पा सका।

इस से बड़ी कठिनाई रफीक ने अनुभव की जब कालेज के हस्पताल में एक वर्ष नौकरी कर चुकने के बाद उसे छुट्टी दे दी गई। रफीक के सामने अपनी डाक्टरी चलाने की समस्या थी। वह जानता था उसके पास-पड़ोस में लाखों आदमी बीमार हैं जिनका इलाज होना चाहिये था। परन्तु यह बात समाज के चलन और डाक्टरों के सम्मान की दृष्टि से बेहूदा जान पड़ती थी कि वह जाकर लोगों से कहे कि मैं तुम्हारा इलाज कर सकता हूँ।

रफीक ने जब लड़कपन में डाक्टर बनने की महत्वाकांक्षा मन में पाली थी और इस महत्वाकांक्षा पर कुर्बान होकर सफलता पाई थी तब दो

बातें उसके मन में थीं, उसने अपने दादा को गुर्दे के दर्द से कराह-कराह कर मरते देखा था। जब वह चौथे दर्जे में पढ़ता था, उसकी माँ भी लम्बे बुखार और खांसी से सूख-सूख कर मर गई थी। माँ की तकलीफ बढ़ जाने पर वालिद उन्हें इक्के पर बैठा कर हस्पताल ले जाते थे। इस में वालिद का आधा दिन बरबाद हो जाता। किसी दिन रफीक माँ को हस्पताल ले जाता तो स्कूल न जा पाता। हस्पताल में कितनी बेइज्जती होती। घण्टों बैठे रहने पर बारी आती और तब डाक्टर ऐसे बात करते जैसे उन्हें खामुख्वा परेशान किया जा रहा हो। उनकी नज़रों में हकारत भरी रहती। हस्पताल से जो दवाई मिलती उससे माँ को कुछ फायदा मालूम न होता। लोग बताते, हस्पताल वाले तो रंग और खुशबू मिला कर पानी बांटते हैं। कभी डाक्टर ऐसी दवाई लिख देते जो हस्पताल में न रहती, कम्पाउण्डर कहते बाज़ार से खरीदो! लेकिन उसके लिये दाम बहुत चाहिये थे।

एक रोज परेशान होकर रशीद के वालिद ने डाक्टर से मिन्नत की—"हजूर हस्पताल आते एक बरस हो गया। कुछ फायदा नहीं मालूम देता। जरा नाली (स्टैथिस कोप) लगा कर देख लीजिये।"

डाक्टर ने परे हटने का इशारा कर उत्तर दिया—"बरस भर दवा खिलाई है तो कौन गाँठ के पैसों से!··· बरस भर और सही। और दिखाना है तो बंगले पर लाओ।" बेकार समझ कर इलाज बन्द कर देना पड़ा। उसने अपने बीसियों पड़ोसियों को इलाज के बिना एड़ियां रगड़ कर मरते देखा था। इन लोगों की मिट्टी में जाते समय वह गर्दन झुकाये चुपचाप निश्चय करता रहता कि वह डाक्टर बनेगा। अल्लाह का करम तो इनसान पर चाहिये ही मगर इनसान की मदद के लिये डाक्टर भी बहुत ज़रूरी है मन ही मन उसने निश्चय किया, जैसे मज़हब और खुदा की बात मुल्ला जानता है वैसे ही बीमारी और इनसान के जिस्म की बात डाक्टर जानता है। वह लोगों के मुँह से सुनता—"खुदा की मर्जी··· वही मारने जिलाने वाला है।" मगर रफ़ीक सोचता—"खुदा ने हकीम और डाक्टर भी तो बनाये हैं।"

इसके साथ ही वह बचपन से ही अपने शहर के बड़े-बड़े डाक्टरों के ठाट-बाट और आदर-सत्कार देख कर भी प्रभावित हुआ था। यह ठाट और आदर भी उसके जीवन की महत्वाकांक्षा थी। उसे विश्वास था कि

डाक्टर बन जाने से पैसा तो बरसेगा ही लेकिन जब वह दुखियों का दुख दूर कर सकेगा तो उनकी आँखों से बरसने वाली कृतज्ञता कितना संतोष देगी।

डा० रफ़ीक के वालिद मुश्ताक अहमद बड़े कारोबारी तो कभी नहीं रहे, हाँ अपने समय के अनुसार औसत हाल गुजारा चला ही रहा था। उनकी चिलम, तम्बाकू और नेचे की दुकान थी। एक तो शहरियों ने सिगरेट पीना शुरू कर दिया और दूसरे पड़ोस में लोगों ने अधिक सरमाये से बड़ी-बड़ी दुकानें खोल लीं। मुश्ताक अहमद दस रूपये की बिक्री में दस आने कमा पाते तो बड़े दुकानदार रूपये पर तीन पैसा भर ही ले, दो सौ रूपये की बिक्री कर दस रूपया बना लेते। परिणाम यह हुआ कि उनकी दुकान बढ़ते किराये की लाठी की मार से चौक से बाजार की ओर खिसकती गई और सिकुड़ कर केवल तम्बाकू की ही दुकान रह गई। लोग तारीफ करते थे, आखिर लड़के को तो डाक्टर बना दिया। लेकिन यह दुकान की बरकत से नहीं, लड़के की जिद् की बदौलत हुआ।

यों डाक्टर रफीक का अपना जद्दी मकान था। किसी जमाने में जगह जमीन के लिहाज से वह ज़रूर मकान रहा होगा लेकिन तीन पीढ़ियों में तीन-तीन हिस्सों में बंट कर अब वह केवल एक छोटी इक मंजिला कोठड़ी, भीतर दो चारपाई लायक आँगन और फिर एक कोठड़ी ही रह गया था। यदि रफीक की पीढ़ी में भी चार भाइयों में इस मकान को बाँटने की ज़रूरत पड़ती तो इसके लिए ज्योमेट्री के काफी गहरे इल्म की ज़रूरत होती लेकिन रफीक का बड़ा भाई 'लोको' में नौकरी करके जाने कहाँ से कहाँ पहुंच गया। दूसरी माँ से पैदा दो छोटे भाई भी साइकिल की दुकानों पर शागिर्दी करते, हवा भरते विस्तृत संसार को अपने घर से अधिक रोचक पा कर माँ-बाप का मोह त्याग भाग गये। अब यह मकान एक गन्दे मुहल्ले की कच्ची पतली गली में किसी तरह अटा हुआ टाट के एक पर्दे से अपनी इज़्ज़त ढके था। हस्पताल से नौकरी छूटने पर रफीक को विवश हो इस मकान में आना पड़ा जो उसके डाक्टरी ज्ञान के अनुसार केवल अनेक रोगों को पैदा करने के लिए ही उपयुक्त हो सकता था। यह मकान एक आधुनिक डाक्टर प्रेक्टिस के लायक कैसे हो सकता था?

नौकरी के समय हस्पताल में रहने के लिए मिले क्वार्टर पर रफीक ने

अपना नाम; डिग्री सहित एक छोटी तख्ती पर लिखवा कर लगवा लिया था। अपने नाम की वह तख्ती जब रफीक इस मकान पर लगाने लगा तो दीवार ने कीलों को पकड़ने से इनकार कर दिया, या तख्ती वहाँ ठहरने के लिए तैयार न थी। वह तख्ती उस मकान के साथ और मकान उस तख्ती के साथ असह्य मज़ाक था। रफीक ने डाक्टरी की डिग्री की वह तख्ती खाट के नीचे फेंक दी और दांतों से होंठ दबा, हस्पताल की नौकरी के समय सिलाई पतलून की जेबों में हाथ डाल प्रैक्टिस के लायक जगह की तलाश में निकल पड़ा।

सम्मानित सड़कों और बाजारों में जहाँ जाने माने डाक्टरों के बोर्ड लगे थे रफीक को जगह मिल सकने की कोई आशा नहीं थी। भले आदमियों की बस्ती से दूर जो डाक्टरों की कद्र जानते हैं, जहाँ कहीं सड़क किनारे जा बैठने से तो डाक्टरी चलता नहीं। कोई पान-बीड़ी-दियासलाई जैसी चीज़ तो डाक्टरी है नहीं कि किसी को कहीं भी जरूरत पड़े तो ले ले।

बहुत यत्न करने पर और हस्पताल की नौकरी की बचत में से सामर्थ्य से बहुत अधिक किराया भरने पर रफ़ीक को चमियारी मण्डी में एक बड़े डाक्टर की दूकान से कुछ दूर, एक खरादिये की बगल की दुकान मिल पाई। आकार प्रकार से वह दुकान डाक्टर की दुकान नहीं जान पड़ती थी, अलबत्ता किसी होमियोपैथ या वैद्य-हकीम का मतब होता तो भी एक बात थी कि आने-आने दो-दो आने की पुड़ियाँ बेचकर ही कुछ बन जाता। लेकिन केवल नुसखा भर लिख देने के लिये ऐसी दुकान पर उसे फीस कौन दे जाता? और उसे मरीज दिखाने के लिये कोई घर बुला ले जाता तो किस नामवरी के आधार पर? किराये पर ली मेज, दो कुर्सियां और बेंच लगा और चिक लटकाकर डा० रफीक दुकान में बैठने लगा। अकेला बैठा या तो वह डाक्टरी की कोई किताब पढ़ता रहता या ऊब जाने पर सड़क पर आते-जाते लोगों को चिक में से झांकता रहता। किसी भी रोगी चेहरे को देख उसे आशा होती कि कोई आया। परन्तु बीमार न आते। उसकी गली के कुछ लोगों को छोड़ कर, जिन्हें पड़ोसी डाक्टर को फीस देने की जरूरत न होने का विश्वास था, रफीक के पास कोई मरीज़ नहीं आया।

डा० रफीक खाली बैठा बैठा सोचा करता और ज़िन्दगी में उसने शायद कभी इतना न सोचा होगा ? अब तक उसके सामने एक निश्चित लक्ष्य था । उस लक्ष्य तक पहुंच पाने के लिये वह जूझता गया । अब आगे राह ढूंढ़ने का प्रश्न था, आत्मसम्मान का प्रश्न था और उचित अनुचित का प्रश्न था । मरीज़ न आने से उसे निराशा होती और इस निराशा से अपने प्रति ग्लानि अनुभव होती । वह अपने आपको धिक्कारने लगता—मैं क्यों चाहता हूँ कि लोग बीमार हों ? शराब का ठेकेदार चाहता है कि लोग खूब शराब पियें । कोठे पर बैठने वाली वेश्या चाहती है कि लोग अपने घरों की उपेक्षा कर हमारे यहाँ आयें । ऐसे लोग बुरे हैं तो मैं इनसे भी बुरा हूं । मैं चाहता हूँ लोग बीमार हों । लोग बीमार हों तो मुझे पैसा दें ! लोगों का दुख बढ़ने से मुझे रोटी मिलेगी ! मैं आते-जाते लोगों के चेहरे पर रोग क्यों देखता हूँ ! वे रोगी नहीं हैं तो अच्छा ही है ! मुझे लोगों को स्वस्थ देख कर खुश होना चाहिये या बीमार देखकर ? डाक्टर लोग क्या मुर्दार खा कर जिन्दा रहने वाले गिद्ध हैं ! लेकिन यों अपने आपको कोसने और मनुष्य-समाज का भला चाहने से पेट भरने की आशा नहीं की जा सकती थी । उसे अफसोस होने लगता, मैंने डाक्टर बनने की कोशिश में व्यर्थ ही जिन्दगी बरबाद की !

एक मास दुकान का किराया व्यर्थ दे देने के बाद उसे चिन्ता होने लगा, ऐसे मैं कब तक प्रतीक्षा कर सकूंगा ! अपनी बचत में से वह अधिक से अधिक एक मास का किराया और दे सकता था । उसके बाद ! उसने सरकारी देहाती हस्पतालों में नौकरी के लिये दरख्वास्तें भेज दीं । दवाई बनाने वाली कई कम्पनियों में भी दरख्वास्तें भेजीं ।

एक दिन डा० रफीक मेज़ के नीचे पाँव पसारे कुर्सी पर बैठा चिक की ओट से सड़क पर आते-जाते लोगों को देख रहा था । सामने से चेतनस्वरूप जाता दिखाई दिया । रफीक ऊबा बैठा था । उठकर उसने कुछ कदम आगे बढ़ गये चेतनस्वरूप को पुकार लिया ।

चेतन ने घूम कर देखा और पहचान कर लौट आया । दुकान पर चढ़ने से पहले चेतन ने दुकान पर लगा छोटा सा बोर्ड सुनाकर पढ़ा—डाक्टर रफीक अहमद एम० बी० बी० एस०, आखिर तुम डाक्टर बन ही गये ? मान गये भाई ! असली किताबी कीड़े निकले कि छेदते हुये किताबों

के पार आकर दम लिया।"—मिलाने के लिए रफीक का हाथ थाम उसने खूब झकझोर डाला।

इन्टर में पहले और दूसरे साल रफ़ीक और चेतन साथ-साथ ही पढ़े थे। पढ़ने लिखने में चेतन स्वरूप भी काफी तेज़ था। वह कोर्स की पुस्तकों के अतिरिक्त बाहर की पुस्तकें विशेष कर राजनैतिक और समाजवादी साहित्य पढ़ता था। वह ऐसी पुस्तकें पढ़ने की प्रेरणा रफीक को भी देता रहता। रफीक अपने लक्ष्य से हटने के लिये तैयार न हुआ। वास्तव में उसके पास समय ही न था। स्वयम् पढ़ने के अतिरिक्त उसे सदा ही दूसरे लड़कों को ट्यूशन भी पढ़ानी पड़ती थी। दिल्लगी, और शौक की पढ़ाई तथा राजनैतिक झंझट के लिये उसके पास समय ही कहाँ था!

इंटर के बाद जब रफीक डाक्टरी कालेज में और चेतनस्वरूप यूनिवर्सिटी में पढ़ रहे थे तब भी उनकी मुलाकात होती रहती थी। चेतन स्टूडेंट-फेडरेशन का संगठन कर, राजनैतिक सभाओं का आयोजन करने में लगा रहता था। रफीक को भी उसने अपने साथ मिलाना चाहा और उसके आनाकानी करने पर उसे लम्बे उपदेश भी दिये—"तुम समाज में रहते हो, समाज से बेपरवाह कैसे रह सकते हो? तुम्हारी समस्या क्या समाज से अलग है! विद्यार्थियों के लिये शिक्षा का उचित प्रबन्ध क्या तुम्हारी समस्या नहीं? क्या यह सरकार का कर्तव्य नहीं है? तुम अपनी समस्या को अकेले हल करना चाहते हो, समाज की उपेक्षा करके! तुम समाज से लाभ तो उठाना चाहते हो परन्तु समाज के प्रति अपना कर्तव्य नहीं करना चाहते!" परन्तु रफीक भी एक जिद्दी था। मुस्करा कर उत्तर दिया—"यह सब बातें इम्तिहान के बाद!"

चेतनस्वरूप ने तो ऐसी बातें सैकड़ों लोगों से की थीं, इसलिये उसे तो उन मुलाकातों की विशेष याद न थी। परन्तु चेतन को देखते ही और अपनी वर्तमान अवस्था में समस्या की विकटता के कारण रफीक को वे सब बातें सहसा और ठीक ठीक याद आ गईं।

तभी सहसा चेतन पूछ बैठा—"कहो, प्रैक्टिस कैसी चल रही है! खूब रूपया बटोर रहे हो!"

"कुछ भी नहीं"—होंठ सिकोड़, आत्म-सम्मान बनाये रखने की परवाह कर रफीक ने उत्तर दिया—"शायद वजह यह हो कि नया काम है,

काम भी क्या है ? दवाइयाँ तो हैं नहीं। केवल सलाह दे सकता हूँ। दवाइयाँ रखने के लिये कम से कम दो हजार तो हों !"

"तो फिर क्या तालाब किनारे बैठे बगुले की तरह तसबी फेरा करते हो, आ फंसों-आ फंसों ! या खुदा से दुआ माँगा करते हो कि शहर में बीमारी फैले !"—चेतन ने पुरानी आदत के मुताबिक मज़ाक किया परन्तु रफ़ीक के चेहरे पर अनुत्साह का भाव भाँप कर बात बदल दी—"और तुम कर ही क्या सकते हो ! लोग जब तक बीमार न हों, तुम्हारे पास आयें क्यों ! पूँजीवादी समाज में व्यवस्था ही ऐसी है कि सब दूसरे का शिकार करके जीते हैं। बनिया बाज़ार में सौदे की कमी का, वकील कानून के जाल में फंसे मवक्किल का और डाक्टर बीमारी से परेशान आदमी का। हमारे समाज में डाक्टर का काम बीमारी दूर करना नहीं, बीमारी से फायदा उठाना है। तुम लोगों की बीमारी दूर करने का अवसर चाहो तो उसकी कमी नहीं है परन्तु तुम्हें तो बीमार की जेब से पैसा चाहिये।"

डा० रफ़ीक को अपनी कठिनाई में चेतन का लेक्चर झाड़ कर उसके पेशे को गाली देना अच्छा नहीं लगा। चेतन की आँखों में आँखें गड़ा कर उसने रूखे स्वर में प्रश्न किया—"तो क्या तुम्हारे समाजवाद में, तुम्हारे रूस में डाक्टर रोटी नहीं खाते······केवल बीमारी दूर करते हैं ?"

"सुनो"—चेतन ने मुस्कराकर रफ़ीक की चुनौती स्वीकार करली और सहूलियत के लिये बगल में दबी पुस्तकें मेज पर रखदीं—"सुनो, समाजवाद में और रूस में मनुष्य इतना आतुर और विवश नहीं होता कि दूसरे का शिकार करने के लिये मजबूर हो ? डाक्टर की स्थिति वहाँ पुलिसमैन की होती है—नहीं, बात ठीक नहीं बनी। यहाँ तो पुलिसमैन की भी कद्र और तरक्की तभी होती है जब समाज में अपराध ज़्यादा हों ? वहाँ डाक्टर सरकार का अंग होता है। उसकी जिम्मेवारी है कि उसे सौंपे गये इलाके में कोई रोग फैलने न पावे। अपने इलाके के स्वास्थ्य की रक्षा उसका काम है। यदि उसके इलाके में रोग फैलता है तो उसकी चिन्ता और बोझ बढ़ता है, उससे जवाब तलब किया जाता है। यदि उसके इलाके में लोगों का स्वास्थ्य सुधरता है, उसकी प्रशंसा और उन्नति होती है। समझ गये कि रूस का समाजवादी डाक्टर रोटी कैसे खाता है ? यह है अन्तर समाजवाद और सरमायादारी में ! समाज-

बाद में पूरा समाज मिल कर सब के हित के लिये कुदरत से अपनी ज़रूरत की चीज़ें लेता है और पैदा करता है। पूँजीवाद में सब लोगों के दूसरे की जेब का पैसा ऐंठने की ही नीति चलती है, पैदा करने या समाज की जरूरत पूरी करने की बात कोई नहीं सोचता ? इसके लिये मुझे या तुम्हें किसी एक व्यक्ति को दोष नहीं दिया जा सकता। किसानों के समाज में पैदा हुआ व्यक्ति पेट भरने के लिये हल चलाने की बात सोचेगा। समुद्री डाकुओं के समाज में पैदा हुआ व्यक्ति पेट भरने के लिये लूट की ही बात सोचेगा। दोष तो समाज की व्यवस्था का है। इस व्यवस्था में आदमी कानूनी तौर पर ईमान्दारी निभा सकता है परन्तु इन्सानियत के नाते बुनियादी ईमान्दारी नहीं निभा सकता ! ऐसी ईमान्दारी इस समाज में कानूनी जुर्म है······"

रफ़ीक ने प्रश्नात्मक दृष्टि चेतन की आँखों में डाली। उत्तर देने के लिये चेतन बोला —"तुम डाक्टर हो, तुम एक बीमार को देखते हो। उसके लिये एक दवा की ज़रूरत है। गरीब बीमार दवा खरीद नहीं सकता। तुम जानते हो दवा अमीनाबाद और कैसरबाग की दुकानों में मौजूद है और दवा न मिलने से बीमार मर जायगा। इस हालत में तुम्हारा फर्ज़ क्या है ?"

कन्धे हिला कर रफ़ीक ने उत्तर दिया—"लेकिन दाम तो हरेक चीज़ का दिया ही जाता है।"

"ठीक है"—उत्तेजना में दोनों हाथ उठा चेतन ने रफ़ीक को चुप करा दिया–"मैं पूछता हूँ, दवाई बनाने का प्रयोजन रोग को दूर करना है या मुनाफा कमाना ?"

"लेकिन भाई दवाई बनाने में और दवाई के इस्तेमाल का तरीका सीखने में भी तो पैसे लगते हैं"—रफ़ीक ने अपनी बात दोहराई।

स्वीकृति में सिर हिला कर चेतन ने कहा—"मैं यह मानता हूँ कि दवा बनाने में और दवाई के इस्तेमाल का तरीका सीखने में पैसे लगते हैं। दवाई बनती रहनी चाहिये और दवाई के इस्तेमाल कर सकने वाले का भी गुजारा चलना चाहिये। परन्तु कौन आदमी है जो सामर्थ्य रहते अपनी प्राणरक्षा के लिये दाम नहीं देना चाहेगा ?···लोगों को प्राणरक्षा लायक रोटी कमाने का अवसर नहीं, दवा लायक कमाने का अवसर कहां होगा ? तुम समाज का भला करना चाहते हो, परन्तु उसके लिये अवसर कहाँ है ? ऐसी अवस्था में

क्या होगा ? मुनाफ़ाखोर अमीरों के लिये बहुत बड़े-बड़े डाक्टर रहेंगे और गरीबों के लिये बिलकुल भी नहीं। यदि कोई गरीबों का इलाज करना चाहेगा तो भूखा मरेगा—" रुकते रुकते वह फिर बोला—"हाँ, एक बात और, अमीर तो हज़ार में दो चार ही हैं और शेष दुनिया गरीब ही है !"

रफ़ीक सहसा उत्तर न दे, दाँत से अंगूठा दबाये अपने दादा, माँ और कई पड़ोसियों के एड़ियां रगड़-रगड़ कर मरने की बात सोचता रहा।

"अब तुम्हीं बताओ, तुम्हारा डाक्टरी का इल्म व्यर्थ जा रहा है न ?" चेतन फिर बोल उठा—" क्योंकि तुम्हारी सेवा का दाम देने वाले नहीं हैं। जिन लोगों के पास पैसा है, उनके लिये डाक्टरों की कमी नहीं बल्कि डाक्टरों में मरीजों के लिये होड़ चल रही है। शहर भर की दीवारें और अखबारों के पन्ने दवाइयों के विज्ञापन से काले हो रहे हैं। दवाई बेचने वाले उल्टे करोड़ों खर्च कर रहे हैं कि हमारी दवाई खाओ ? और ज़रूरत मन्द को दवा नहीं मिलती.........।"

"ऐसे तो बात बहुत दूर जा पहुंचेगी"-लम्बा सांस लेकर रफ़ीक ने टोका।

"बात तो दूर पहुंचेगी ही"—चेतन ने स्वीकार किया—"क्योंकि सब बातों का आपस में सम्बन्ध है। जिस समाज में हम रहते हैं उसकी व्यवस्था के प्रभाव से कैसे बच सकते हैं ? अब क्या बीमारों की कमी है ? लेकिन तुम उनका इलाज करो कैसे ?......वे तुम तक आयें कैसे ?...तुम उन तक जाओ क्यों !......."

"नहीं, ऐसी बात नहीं है, यदि तुम्हारे परिचित लोगों को जरूरत है तो मैं क्यों नहीं जा सकता ? यहाँ भी तो बैठा ही रहता हूँ !"-झिझकते हुए रफ़ीक ने उत्तर दिया।

× × × ×

भदेवां, आलमबाग, ऐशबाग, नख्खास, छितवापुर की बस्तियों में चेतन रफ़ीक को जहाँ भी ले गया, बीमारों की कमी न थी। ऐसे बहुत से गरीब थे जिन्हें दुबारा देखना भी रफ़ीक ने आवश्यक समझा, और बार-बार गया। अपनी बीमारी का ज़िक्र करते-करते मज़दूर लोग दूसरी कठिनाइयों का भी ज़िक्र करने लगते, जैसे छुट्टी की ही अर्जी। मजदूर का इलाज करना था तो उसे छुट्टी दिलाना भी आवश्यक था या किसी अन्याय

के विरुद्ध न्याय के लिए प्रार्थना पत्र देना। रोगियों की सहानुभूति में रफ़ीक को यह सब भी करना ही पड़ता।

कुछ उपयोगी काम कर सकने का संतोश रफ़ीक को जरूर था परन्तु आमदनी इसमें कुछ न थी। उल्टे साइकिल पास न होने के कारण इक्के के लिए कुछ आने पैसे जेब से खर्च हो जाते। रफ़ीक यह सब करता। एक साहस सा जीवन में अनुभव होने लगा। गर्दन उठा कर चलने की सी प्रवृति अनुभव होने लगी। तभी भाग्य से या दुर्भाग्य से नौकरी भी मिल गई।

बारूदखाने के आग़ा साहब ने पानदरीबा में अंग्रेजी दवाइयों की एक दुकान खोली थी। उनका विचार ठीक ही था कि यदि दुकान पर नुसख़ा लिखने वाले डाक्टर का भी प्रबन्ध हो जाय तो बिक्री बढ़ सकती है। डा० रफ़ीक की सहायता का विचार प्रकट करते हुये आग़ा साहब ने बात की, डाक्टर साहब, प्रैक्टिस चलाने के लिये शुरू में आप अपनी दुकान पर कुछ दवाइयाँ रखियेगा? कुछ नहीं तो दो चार हज़ार खर्च करना ही होगा? दुकान का किराया अलग से भर रहे हैं। हमारी दुकान में जगह की कमी नहीं है। मेज़-कुर्सी लगवा देते हैं। वहीं बैठकर नुसखे लिखिये। लोगों की परेशानी दूर होगी। इस हाथ नुसख़ा लिखाया उस हाथ दवाई बन गई। आपका हमारा तै हो जाये। चाहे कमीशन तै कर लीजिये चाहे माहवारी।

सन १९४७ की मंहगाई के ज़माने में जब आग़ा साहब ने उन्नीस बरस तालीम हांसिल करके डाक्टर बनने वाले आदमी की मज़दूरी पचहत्तर रूपया माहवार सुनायी तो रफ़ीक के सिर से पाँव तक बिजली कौंद गयी। लेकिन आग़ा साहब ने हिसाब समझा दिया—"देखिये, आप दुकान का किराया ४५) दे रहे हैं, वह बचेगा। आप तो १२०) समझिये? और मरीज़ों से अपनी वाकफ़ियत होगी। लोग आपको घर ले जाकर मरीज़ दिखायेंगे, उस में तो हम हिस्सेदार नहीं होंगे। दो जगह भी दिन में हो आये तो ४) समझिये! यह भी महीने का १२०) होता है। हम आप पर दिन भर बैठने की पाबन्दी लगा नहीं रहे। तीन घण्टे सुबह और तीन घण्टे शाम? बाकी सब दिन आपका! जहाँ चाहे मरीज़ देखिये। आप का नाम बढ़ेगा,

हमारा भी कुछ फ़ायदा हो जायगा और फिर देखिये, बीस हजार की जमा गाँठ से दुकान पर लगा रहे हैं। किराया अलग रहा! नफ़ा नुकसान मालिक के हाथ! हमें तो ७५) और गिन कर देने ही पड़ेंगे।

कहीं तो पाँव टिकाने की जगह मिले! इस विवशता में डा० रफ़ीक को आग़ा साहब का प्रस्ताव मान लेना पड़ा। सुबह या दोपहर के समय वह अपने निजी काम के तौर पर मज़दूर बस्तियों में हो आता। छः घण्टे नियमित रूप से दुकान पर बैठता। आग़ा साहब ने समय के अनुकूल, अपनी दुकान पर मोटे चमकीले अक्षरों मे लिखवा दिया थाः—

जनता का दवाई खाना, मशविरा और नुसखा मुफ्त।

डा० रफ़ीक को नौकरी आरम्भ किये अधिक दिन नहीं हुये थे कि आग़ा साहब से खटपट भी होने लगी। रफ़ीक रोगी को देख कर जो दवाई मुनासिब होती लिख देता। आगा साहब की नयी दुकान में बहुत सी दवाइयाँ नहीं भी थीं। वे रफ़ीक से नुसखा बदल देने के लिये कहते।

दो एक बार रफ़ीक ग़म खा गया आखिर बोला—"जनाब, दवाई नहीं है तो मंगवाइये। दवाई बीमारी के मुताबिक होती है, बीमारी दवाई के मुताबिक नहीं।"

जवाब मिलता— 'हमें तो वही बेचना है जो हमारे पास है।...जो है नहीं वह कैसे बेचें?"

रफ़ीक को मन मार कर रह जाना पड़ता। ऐसा झगड़ा कई बार हो चुका था। आखिर एक दिन बात बढ़ ही गयी। पानदरीबा में ही आग़ा साहब का नया मकान बन रहा था। पैड़ टूट जाने से एक मज़दूर नीचे ईंटों पर गिर पड़ा। दूसरे मज़दूर उसे उठा कर दुकान पर ले आये। चोट खाये मज़दूर के शरीर से बहुत लहू जा रहा था। रफ़ीक ने उसे देखा और तुरन्त नुसखे पर दो इंजेक्शन लिख कर स्वयम् इंजेक्शन की पिचकारी ठीक करने लगा।

आग़ा साहब दुकान पर मौजूद थे। उन्होंने समझाया—"इन इंजेक्शनों के दाम २८) होते हैं। यह आदमी भला क्या देगा। आप रहने दीजिये— "मज़दूरों को सम्बोधन कर उन्होंने कहा—"इसे यहाँ क्यों लाये हो भाई, हस्पताल ले जाओ?"

"यह हस्पताल ले जाने लायक हालत में नहीं है"—रफ़ीक बीच में बोला—"मुझे मालूम है यह दवाई हस्पताल में नहीं होगी। डाक्टर नुसखा लिख देगा, दवाई बाज़ार से ही लानी होगी। वहाँ जायगा, रास्ते में हिलेगा और वहाँ ड्यूटी-रूम के चक्कर में जाने क्या क्या हो! तब तक यह ज़िन्दा रहे न रहे?"

"तब फिर हम ही क्या कर सकते हैं?"—हाथ फैला कर आग़ा साहब ने कहा -"जब सरकार ही इतनी कीमती दवाई मुफ्त नहीं दे सकती तो हम कैसे दे दें? आज कल यह इंजेक्शन मिलते कहाँ हैं? मौका आयगा हम इसके सवा सौ वसूल करेंगे?"

इंजेक्शन की पिचकारी हाथ में थामे एक लम्बी साँस खींच रफ़ीक ने कहा—"इस आदमी को चोट आप के काम में लगी है। आप इसका इलाज नहीं कराइयेगा?"

"मैं इलाज का जिम्मेवार नहीं हूँ डाक्टर साहब!"—माथे पर त्योरियां डाल आग़ा साहब पहले से ऊंचे स्वर में बोले—"मैं डेढ़ रूपया रोज़ का देनदार हूँ।...कानून की बात कानून से होती है।"

"कानून की बात न सही, इन्सानियत की ही सही।" रफ़ीक ने आग़ा साहब की त्योरियों की उपेक्षा कर उत्तर दिया।

"इन्सानियत की बात तो यह है"—आग़ा साहब और तेज बोले—"आप इस दुकान में काम करते हैं। आपको इस दुकान के नफ़े नुकसान का ख्याल करना चाहिये।"

दांत से होंठ काट कर रफ़ीक ने एक बार और साहस किया—"यह २८) मेरे हिसाब में लिख लीजिये।"

"आप तो अगले माह के हिसाब में भी २५) पेशगी ले चुके हैं। जाने भी दीजिये, क्यों जहमत सिर लेते हैं! कौन आपका सगा है! ऐसे तो जाने कितने रोज़ मरते हैं! यह तो कारोबार है! कारोबार कहीं ऐसे चलते हैं!" दुकान के नीचे खड़े मज़दूरों को उन्होंने धमकाया—"ले क्यों नहीं जाते इसे हस्पताल?" रफ़ीक ने हाथ में थमी इंजेक्शन की पिचकारी मेज पर रखदी और सड़क पर उतर गया। कुछ दूर वह यों ही चला गया और फिर सोचा, कहां जा रहा हूँ! घूम कर वह चेतन के डेरे की ओर चल दिया।

डाक्टर रफ़ीक ने आग़ा के काम में मज़दूरों के घायल हो जाने और दवाई मौजूद होते हुये भी दवाई न देने की सम्पूर्ण घटना सुनाकर पूछा—"मज़दूरों के सम्बन्ध के कानून तुम अधिक जानते हो। मज़दूरों के हर्जाने का कानून (वर्कमैन कम्पेन्सेशन एक्ट) है; दवाई कंट्रोल एक्ट है, इस अन्याय के विरुद्ध पुलिस में, सरकार के यहां रिपोर्ट करने पर कुछ नहीं हो सकता ?"

"नहीं, कुछ नहीं हो सकता"—निराशा से चेतन ने उत्तर दिया—"ऐसी घटनाओं का इलाज तभी होगा जब मजदूर श्रेणी कानून बनायेगी। पूँजीवादी विधान के कानून मज़दूर श्रेणी को सशक्त बनाने के लिए नहीं, उन्हें अपने उपयोग के लिये सुरक्षित रखने के लिये बनाये जाते हैं। आज यदि रेलवे और मिल का मज़दूर कोई शिकायत कर सकता है तो इसलिए कि वह थोड़ा बहुत संगठित है और मालिकों के अत्याचार के विरुद्ध संगठित रूप से उठ खड़ा होता है"—रफ़ीक को चुप रहते देख चेतन ने अन्त में कहा—"और इस विधान को केवल मज़दूरों की संगठित शक्ति ही बदल सकती है।"

डा० रफीक उस दिन शाम तक और फिर रात को भी चेतन के यहां ही बना रहा। रात भर दोनों में बातें होती रहीं। अगले दिन से रफ़ीक दुकान नहीं गया। पार्टी-आफिस में चेतन के साथ ही रहने लगा और दिन भर मज़दूरों की इस बस्ती में, उस बस्ती में और कारखानों के दरवाज़ों पर घूमने लगा। अब उसका काम सहानुभूति से बीमार मजदूरों को नुसख़ा लिख देना भर नहीं रहा, वह उन्हें संगठित करने और अपने अधिकारों के लिये लड़ने के लिये उत्साहित करने लगा। दूसरे संगठन कर्ताओं की अपेक्षा उसे सफलता भी अधिक मिलती क्योंकि मज़दूरों की बीमारी के समय, उनकी सहायता कर सकने के कारण, उसके प्रति उन्हें श्रद्धा थी। सभी संगठन कर्ताओं को मज़दूरों में ईकट्ठे हुये चन्दे से तनखा (पार्टी वेज) मिलती थी। रफ़ीक को ३०) माहवार मिलते थे। कभी चन्दा इकट्ठा न होने पर आधा या उससे भी कम ही मिल पाता। परन्तु डाक्टर होने के कारण उसे भूखा न रहना पड़ता।

अपने घर के लोगों की चिन्ता रफ़ीक ने नहीं की। बल्कि उनके

प्रति उसका रुख ही बदल गया—माना मर रहे हैं, पिस रहे हैं तो दुनिया के साथ हैं। सब का भला होगा तो इनका भी हो जायगा। और जब वे लोग इसके लिये कुछ करने के लिए तैयार नहीं, शोषण की व्यवस्था के प्रति वफादारी दिखा कर, चालाकी से अपनी व्यक्तिगत कठिनाई का उपाय करना चाहते हैं तो ऐसा ही करलें। मैं उसमें क्या कर सकता हूँ?

ड० रफ़ीक के इस नये जीवन में शीघ्र ही कठिनाई आने लगी। मज़दूरों को संगठित करने का प्रश्न उनके जीवन की सभी समस्याओं का राशन, कपड़ा छुट्टी, मज़दूरी का दर इत्यादि का प्रश्न था। उनकी सभी मांगों के लिये मजदूरों को संगठित कर आवाज़ उठाना, सभा करना, जुलूस निकालना। मांगें पूरी न होने पर विरोध प्रकट करना। मजदूरों के पास संगठित विरोध का एक मात्र तरीका है, हड़ताल !

युद्ध समाप्त हो चुका था परन्तु रोटी, कपड़े के दाम बढ़ते ही जा रहे थे। युद्ध के समय विदेशी सरकार को आशंका थी कि इस देश की प्रजा की सहानुभूति सरकार के विरुद्ध होना घातक होगा, जैसे भी हो उन्होंने दाम इतने न बढ़ने दिये जितने युद्ध के बाद राष्ट्रीय सरकार के शासन में बढ़ गये। बाज़ार में दाम पांच गुना होगये परन्तु तनखाह और मजदूरी दूनी होना भी दूभर था। मजदूर चाहते थे मजदूरी बढ़े। मालिक अपने मुनाफे में से मजदूर को हिस्सा देने के लिये तैयार न थे। मालिकों को दबाने के लिये मजदूर हड़ताल करते थे। परन्तु यह प्रश्न केवल मालिक और मजदूरों के झगड़े का ही नहीं था, यह प्रश्न था देश भर का। सरकार को दखल देना ज़रूरी जान पड़ा।:—

सरकार का कहना था, दाम अधिक होने का कारण बाज़ार में सौदे की कमी है। हड़तालें होने से पैदावार और कम होगी, सौदा और महगा होगा, जनता की बेचैनी और बढ़ेगी। देश के प्रति मजदूरों का कर्तव्य है हड़ताल की बात न कर पैदावार बढ़ायें। मज़दूरों के नेताओं का कहना था—बाज़ार में सौदा कम नहीं है, गोदामों में सड़ रहा है, खरीदने लायक मजदूरी जनता को नहीं मिलती। इसलिये उनके पास खरीदने लायक दाम नहीं। सौदा महगा इसलिये है कि मालिकों ने अपना मुनाफ़ा बेहद बढ़ा लिया है। महंगाई माल की कमी से नहीं चोर बाजारी से है। मिलों

का राष्ट्रीय-करण करो, मिलें मज़दूरों के हाथ में दो और देखो पैदावार कितनी होती है और सौदा कितना सस्ता मिलता है।

मज़दूर नेता कहता था—पूंजीपतियों की सरकार सब बात मुनाफ़ाखोरों के ही लाभ की दृष्टि से कर रही है इसीलिये जनता पिस रही है। असंतुष्ट मज़दूर क्रान्ति की बात और व्यवस्था बदलने की बात कर रहे थे। मज़दूर कह रहे थे पैदावार हम करते हैं; समाज में विधान हमारा चलना चाहिये राज मेहनत का होना चाहिये, चोरी का नहीं!

मज़दूर नेता जनता की कठिनाई का कारण पूंजीपति सरकार की बदनियती बता कर विद्रोह की आग फैला रहे थे, बग़ावत की चुनौती दे रहे थे। वे नारे लगा रहे थे:—

"देश की जनता भूखी है, कांग्रेस सरकार झूठी है।"

"इस सड़ी गली सरकार को एक ठोकर और दो!"

कांग्रेस-सरकार जनता की सरकार होने का दावा करती है। कांग्रेसी सरकार व्यक्तिगत स्वतंत्रता, और भाषण की स्वतंत्रता का आश्वासन देती है। परन्तु यह सब उन्ही के लिये जो वर्तमान व्यवस्था को स्वीकार करें; जो इस व्यवस्था के भीतर रह कर सुधार की बात करें। जो लोग इस व्यवस्था को पूंजीवादी व्यवस्था कह कर इसके नाश और परिवर्तन का एलान करें, उनके लिये स्वतंत्रता देना व्यवस्था के अन्त और परिवर्तन में सहायता देना है। सरकार का तो काम ही व्यवस्था की रक्षा है। व्यवस्था को बदलना सरकार के अधिकार को चुनौती देना है। अपने अधिकार को चुनौती देने वालों के प्रति कांग्रेस-सरकार ने कानून और पुलिस का हथियार उठाया।

कम्युनिस्टों के नेतृत्व में चलने वाले मज़दूरों से सभा, जुलूस और भाषण की स्वतंत्रता छीन ली थी। कम्युनिस्टों के लिये संघर्ष का वैधानिक मार्ग बंद हो जाने पर सरकार को अत्याचारी और शोषक की गाली देकर अवैधानिक रूप से लड़ने लगे। उनका एलान था—शोषक की व्यवस्था और शोषित के हित में क्या समझौता?

पुलिस कम्युनिस्टों को खोज-खोज कर पकड़ने लगी और कम्युनिस्ट छिप-छिप कर अपना संघर्ष चलाने लगे। डा० रफ़ीक के प्रति मजदूरों में बहुत सहानुभूति थी। उस पर मज़दूरों को विश्वास था, बिना लोभ के

हमारा इलाज करता है, कुछ मांगता नहीं, मज़दूरों का राज कायम करने की बात करता है। वह मज़दूर बस्ती में रहता था और मज़दूर उसे छिपाये रहते।

रेलवे हड़ताल की धमकी से सरकार बहुत चिन्तित थी; यदि कम्युनिस्टों को इस काम में सफलता हो गयी तो जनता उनके प्रभाव में आ जायगी। देश के भिन्न-भिन्न भागों को रेल ही तो जोड़ती है। इतनी बड़ी चीज़ पर कम्युनिस्टों का प्रभाव प्रमाणित होना सरकार की प्रतिष्ठा और आतंक को बहुत बड़ा धक्का पहुँचता।

सरकार ने रेलवे हड़ताल के प्रयत्न को कुचल डालने का निश्चय कर लिया। जिस किसी व्यक्ति पर कम्युनिस्ट विचारों से सहानुभूति रखने का या पूंजीवाद-विरोधी आन्दोलन से सम्पर्क रखने का सन्देह हुआ उसे जेल में बन्द कर दिया गया। हिन्द की पुलिस ब्रिटिशराज में राजनैतिक फरारों को पकड़ने की शिक्षा बहुत दिन पा चुकी थी। आरम्भ में आतंकवादी-क्रान्तिकारी आन्दोलन का, सन् ३०-३२ में गुप्त कांग्रेसी आन्दोलन का, सन् १९३–९४० में साम्राज्यवादी युद्ध का विरोध करने वाले कम्युनिस्टों का और सन् ४२-४४ में युद्ध-विरोधी उखाड़ फेंक के कांग्रेसी आन्दोलन का शिकार कर करके पुलिस सध चुकी थी। वही पुरानी सधी हुई पुलिस अब कम्युनिस्टों का पीछा कर रही थी। जैसे सन १९४२ में लाट हैलेट ने पुलिस को वफ़ादारी पूरी करने के प्रयत्न में किये गये सब खूनों की माफ़ी का वायदा दे दिया था, वैसा ही भरोसा पुलिस को अब कांग्रेसी सरकार से था। पुलिस वाले भेस बदल कपड़ों में रिवाल्वर-पिस्तौल छिपाये भीड़ से भरे बाज़ारों में, सूनी गलियों में, बगलों और मज़दूर-बस्तियों में, खण्डहरों और जंगलों में कम्युनिस्टों को ढूंड़ते फिरते थे।

पुलिस ने अपनी चौकसी और मुस्तैदी से कम्युनिस्टों का प्रकट आन्दोलन असम्भव कर दिया था। देश भर से चुन चुनकर पन्द्रह-बोस हजार कामरेड जेलों में भर दिये जा चुके थे। फिर भी पचासों हज़ार के बाहर होने की आशंका थी। यह सब होने पर भी मज़दूरों में हड़ताल को पुकार के लिये पर्चे बँट ही जाते। बाजारों सड़कों और कारखानों के आस-पास सफ़ेद-पोश पुलिस के पहरे लग गये थे फिर भी कहीं न कहीं हड़ताली इश्तहार

चिपके दिखाई दे ही जाते, या दीवारों पर चाक या कोयले से हड़ताल के लिये पुकार लिखी दिखाई पड़ जाती :—"भूलो मत, नौ मार्च को हड़ताल होगी। रेल का पहिय्या जाम करेंगे, अपने देश में अपना राज करेंगे।"

सर्व साधारण जनता कम्युनिस्टों की एक दम व्यवस्था परिवर्तन की पुकार से सहमत थी। मौजूदा व्यवस्था में भयंकर संकट अनुभव करके भी अजानी व्यवस्था में कूद पड़ने का साहस उन में न था। परन्तु संकट है, और उपाय होना चाहिये। यह जनता भी मानती थी। सरकार के दमन से उन पर आंतक था और कम्युनिस्टों के प्रति निश्क्रिय सहानुभूति जैसे जनता प्रतीक्षा कर रही हो कि उसके भाग्य का निर्णय कौन करेगा?

ड० रफ़ीक अपने इलाके में संचालक ग्रन्थी का काम कर रहा था। उसे पार्टी का आदेश था कि बिलकुल छिपा रह कर केवल निर्देश दे और संगठन का काम करे, किसी भी हालत में गिरफ्तार न होवे। वह बड़ी कठिनाई में था। गुप्त काम में सहयोग देने वाले उसके विद्यार्थी और मज़दूर सहयोगी प्रायः सब गिरफ्तार हो चुके थे। तीन दिन तक उसके इलाके में, सड़कों, पुलों और वर्कशापों के दरवाज़ों पर इश्तहार नहीं लग पाये थे। रफीक ने भरोसे के आदमी इधर-उधर भेज कर मजदूरों का मन लिया तो मालूम हुआ कि मजदूर निरुत्साहित हो रहे हैं, वे समझ रहे हैं कि हमारे नेता मार खा गये। हड़ताल के लिये इच्छा और सहानुभूति होने पर भी उन्हें हड़ताल फेल होने का डर है। वे हड़ताल में शामिल होना चाहते हैं परन्तु हड़ताल में आगे चलने का साहस उनमें नहीं। मज़दूरों को अपनी शक्ति पर विश्वास दिलाना आवश्यक है।

ड० रफीक यह कमजोरी नहीं सह सकता था। उसे अनुभव हो रहा था कि उसके हाथ-पांव बांध कर उसके शरीर से खून खींच लिया जा रहा है और उसे चुप रहने का निर्देश दिया जा रहा है। यदि आन्दोलन दब गया तो वह सुरक्षित रह कर ही क्या करेगा? जिस समय शरीर पर शत्रु कीटाणुओं का हमला प्रबल है उसी समय लाल कीटाणुओं को सहायता देना आवश्यक है। परन्तु वह डरने वाले लोगों में साहस का संचार कैसे करे? उन्हें कैसे विश्वास दिलाये कि उनका संगठन जीवित है? उनके सामने साहस का उदाहरण रखें तभी तो वे साहस करेंगे। उसने निश्चय किया, इश्तहार जरूर लगेंगे।

डा० रफ़ीक ने दिन भर अँधेरी कोठरी में बैठ कर लाल स्याही से दस इश्तहार लिखे :—"रेल के नौ लाख मजदूरों का संगठन दब नहीं सकता। हम अपने हकों के लिये एक जान हो कर लड़ेंगे। नौ मार्च को हड़ताल करेंगे। लाठी गोली से नहीं डरेंगे। भूलो मत, भूलो मत ?" सवाल था इन्हें उचित स्थानों पर चिपकाने का। पुलिस बहुत चौकस थी ! इश्तहार लगाने वालों के गिरफ्तार हो जाने की पूरी आशंका थी। छः आदमी गिरफ़्तार हो चुके थे। दूसरे बीस-पच्चीस डर गये थे। रफ़ीक ने दो आदमियों से बात कर उन का मन लिया। एक ने उत्तर दिया—"मैं गिरफ़्तारी से नहीं डरता परन्तु घर पर बे माँ के दो बच्चे हैं, उन्हें किसके गले डाल जाऊं ?" दूसरे ने कहा—मैं तो खुद ही सोच रहा था कि इश्तहार लगाने जाऊँ परन्तु घर में कोई है नहीं और उसे, बाल-बच्चा होने वाला है, आजकल हो रहा है।"

रफ़ीक ने जवाब दिया -"खैर भाई अपनी-अपनी समझ है। कोई ऐसा चाहिये जो नौ लाख रेल मजदूरों को अपना समझे ! मज़दूर मार खा गये तो नौ लाख में से कितनों के बे माँ के गल जायेंगे और कितनी जच्चायें बेहाल हो जायेंगी ? देखो, मज़्दूर जमात इतनी गिरी नहीं है, कोई तो निकलेगा जो तुम्हारे लिये जान हथेली पर ले आगे बढ़ेगा ?……और सुनो, अगर पल्टन में होते और ऐसे मौके कूच का आर्डर मिला होता ?…४०) माहवार के लिये डिसीप्लिन माना जा सकता है तो भाई पूरी मजदूर जमात का हित तो बहुत बड़ी चीज है। खैर, कोई तो जायेगा ही……।"

"ऐसा मत कहो डाक्टर"—मजदूर ने जवाब दिया—"हम जायेंगे ! लेकिन हमारे घर में ख़याल रखना, तुम जानों !"

"नहीं भैया"—डाक्टर ने जवाब दिया—"सौदा मैं नहीं करता हूँ। यह लड़ाई का मौका है। इस समय कोई जमानत नहीं। मेरा ही क्या ठिकाना ?"

मजदूर ने इश्तहार माँग लिये और डाक्टर ने दे दिये। परन्तु फिर सोचने लगा। इसके गिरफ़्तार हो जाने का क्या असर होगा ? और अधिक भय होगा और अधिक निरुत्साह ? जब लड़ाई है तो हमें अपने आदमियों को बचाना भी होगा। हमारे पास आदमी हैं ही कितने।

मजदूर ने पुल के नीचे, लोकों और कैरेज वर्कशाप के आस-पास इश्तहार लगाने का निश्चय किया था। रफ़ीक ने एक दूसरे मज़दूर से साइकिल माँगी और उस रास्ते देख-भाल के लिये चल दिया।

अंधेरा हो चुका था। सड़कें प्रायः सूनी थीं। कोई कोई पैदल और कोई-कोई साइकिल वाला भी आ जा रहा था। इनमें से कोई भी पुलिसवाले हो सकते थे। रफ़ीक ने मजदूर साथी को पुल के पास पहचान लिया। उसके पास से गुजरते हुये धीमे से बोला—"सम्भल के! धीरे-धीरे चलो! मैं आगे-पीछे देखता हूँ।

साईकिल तेजकर वह अगले मोड़ तक देख कर लौटा साथी को इश्तहार लगाने के लिये इशारा कर वह दूसरी तरफ के मोड़ की ओर चला। मोड़ ज़रा दूर था इसलिये तेज़ी से चला। मोड़ तक निरापद देख वह लौट ही रहा था कि उसे पुल के नीचे से सीटी की आवाज सुनाई दी!

वह तेजी से लौटा। समीप आते-आते दिखाई दिया कि एक टार्च जल गई। टार्च लिये आदमी के दूसरे हाथ में पिस्तौल थी। टार्च के प्रकाश में रफ़ीक का साथी मजदूर दोनों हाथ ऊपर उठाए खड़ा था।

रफ़ीक खूब तेजी से आ रहा था। अपनी साइकिल उसने पिस्तौल और टार्च लिये पुलिसवाले से जोर से टकरा दी और स्वयम् साइकिल से कूद पुलिस वाले पर जा गिरा। अपने साथी से उसने कहा—"भाग!"

रफ़ीक और पुलिसवाला उलझ रहे थे। मजदूर भाग गया परन्तु इतने में बायें मोड़ की तरफ से सीटियों की आवाज़ें सुनाई दीं। और तीन साइकिलें टार्च जलाये तेजी से बढ़ी आ रही थीं।

रफ़ीक ने धक्के से गिर गये पुलिस वाले के पसरे हुए हाथ से पिस्तौल छीन ली और उस के हाथों में फंसी अपनी टांग छिटक कर साइकिल सम्भाल भागने का यत्न करने लगा।

पीछे से आती हुई साइकिलों पर से गोलियां चलने का शब्द सुनाई दिया। रफ़ीक के भी हाथ में पिस्तौल थी। ज़िन्दगी में उसे कभी पिस्तौल देखने का भी अवसर न मिला था। बचपन में अपने साथियों की खिलौने की पिस्तौल से उसने पटाके जरूर चलाये थे। वैसे ही उसने पिस्तौल का घोड़ा दबाया और पिस्तौल चला दी।

पीछा करने वालों को ठिठकते देख रफ़ीक ने साइकिल पर चढ़ने की कोशिश की परन्तु गोलियां फिर दना-दन चलने लगीं। उसने भी पीछा करने वालों को डराने के लिये और गोलियाँ चलाईं। वह निशाना लगाना जानता नहीं था। सामने तीन टार्चों की आँखों पर पड़ती रोशनी के कारण निशाना लगा भी नहीं सकता था। पीछा करने वालों को डराने के लिये वह उनकी गोलियों के जवाब में यों ही गोलियां चलाये जा रहा था। एक गोली उसका घुटना छील गई। जब गोलियां खतम हो गईं, हाथ की पिस्तौल ही उसने पत्थर की तरह उन पर दे मारी।

रफ़ीक पकड़ा गया और मुश्कें बांध कर थाने पहुंचा दिया गया।

× × ×

जब रफ़ीक ने अपनी पूरी कहानी, कुछ निष्कपटता से और कुछ शेखी में सुना डाली तो मैंने पूछा—"यदि तुम्हारी गोली से कोई मर गया हो?"

"यदि मैं ही मर जाता? मैं भी तो मर सकता था"—उसने कहा—"मेरे घुटने को छीलने वाली गोली मेरे गुर्दे या दिल पर भी तो लग सकती थी।—" उत्तेजित होकर वह बोला—"वे मुझ पर गोली चलाते हैं तो यही कानून की रक्षा है। मैं चलाता हूँ तो कत्ल की कोशिश है। सरकारें अपनी प्रजा को निहत्था कर अपने हाथ में बन्दूकें और तोपें रखती हैं। क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं कि शासन सदा तलवार की शक्ति और दमन से होता है। वही बात हुई न आदमी शेर को गोली से मारे तो शिकार का खेल हुआ और शेर आदमी को मार दे तो वह शेर की पशुता और आदमी का खून होगया, इस न्याय का आधार सिवाय ताकत के और क्या है?"

फिर मैंने पूछा—"उम्र भर कोशिश कर तुमने डाक्टरी सीखी। तुम्हारा काम आदमी की जान बचाना होना चाहिये या जान लेना?" मैंने उसकी ओर देखा।

"मैं तो जान बचाने का ही काम करना चाहता था परन्तु यह व्यवस्था मुझे उसका अवसर देती कहाँ है? और यदि मैं मुसीबत में फंसों की जान बचाने के काम में अपनी रोटी कमाता भी रहता तो ज़िन्दगी में कितनों का इलाज कर लेता, हजार दो हजार का। और यह जो सामाजिक व्यवस्था

का राग है ? जो जनता को भूखा रखकर सब रोग पैदा कर रहा है इसका इलाज नही होना चाहिए ?

बात दूसरे ढंग से करने लिये मैने पूछा—"जानते हो, तुम्हारा चालान किस दफ़ा में होगा ?"

"हो सकता है क़त्ल के इलज़ाम में या क़त्ल की कोशिश के इलज़ाम में हो।"

"इसमें कितनी सजा हो सकती है ?"

"हो सकता है फांसी हो, या काला पानी हो जाय।"

"और यह सब एक इश्तहार चिपकवाने के लिये ?"

"नहीं, अपनी बात कह सकने के अधिकार के लिये !....सुक्रात को जहर का प्याला क्यों पिलाया गया था, इसलिये कि वह अपनी बात कहने पर डटा हुआ था। इसी बात के लिये भगतसिंह फांसी पर चढ़ गया।"

"भगतसिंह ?" कैसे ?

"आपको याद नहीं ;......भगतसिंह देहली असेम्बली में बम फेंक कर गिरफ्तार हुआ था। बम फेंक कर उसने सैकड़ों पर्चे भी साथ ही फेंके थे। उन पर्चों में लिखा था:—"बहरे लोगों को सुनाने के लिये ऊँचे धड़ाके की आवश्यकता होती है। उस पर्चे में असेम्बली में १६२६ में पेश किये गये मजदूर दमनकारी कानून का विरोध था।...बात कहने का मोल सदा देना ही पड़ता है...।"

वह अभी बहुत कुछ कहने को तैयार था परन्तु मैंने बात बढ़ाना निश्फल समझा.........।